

चा

क

बु

क.म.

H  
814.6  
N 629 C

H  
814.6  
N629C

निराला



स्वर्गीय श्री नवजादिक लाल श्रीवास्तव  
की  
ण्य-स्मृति में ।



महाप्राण 'निराला'

# चाबुक Chobuk

( नौ निबन्धों का संकलन )

Nizala

'निराला'



Library

IAS, Shimla

H 814.6 N 629 C



00046588

प्रकाशक  
निरूपमा प्रकाशन  
५०, शहरारा बाग  
प्रयाग

कापी राइट  
श्री राम कृष्ण त्रिपाठी

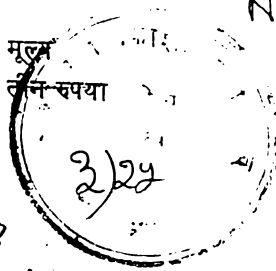
वितरक  
जबलपुर प्रकाशन ग्रह,  
१६, नया बाजार जबलपुर

मुद्रक  
पियरलेस प्रिंटर्स,  
४, बाई का बाग,  
इलाहाबाद

शाखायें  
नगपुर : ग्वालियर  
रीवा : वाराणसी

मूल्य  
रुपया

H  
814.6  
N629C



46588

5.2.79

## दो शब्द

पूज्य पिता महाप्राण पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की मृत्यु गत वर्ष १५ अक्टूबर, १९६१ को एक लम्बी अवधि की अस्वस्थता के साथ हुई। महाप्राण के अवसान का दिवस हिन्दी संसार के लिए अत्यन्त शोक का दिवस माना गया। महाप्राण का एक मात्र पुत्र होने के कारण मेरे उत्तरदायित्व सहज रूप से बढ़ गये। सबसे बड़ा उत्तरदायित्व यदि था तो यह कि उनकी कृतियों के पुनर्प्रकाशन की व्यवस्था करना। अनेक प्रकाशकों ने उनकी कृतियों के प्रकाशन में जिस दरिद्रता का परिचय प्रस्तुत किया था वह महाप्राण के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं था, इस बात से सम्भवतः मेरे सभी शुभचिन्तकगण सहमत होंगे। अनेक कृतियों के प्रकाशकों ने पुनर्मुद्रण की भी व्यवस्था नहीं की तथा प्रचार-प्रसार के कार्य को भी स्थगित कर रखा। ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक था कि महाप्राण के देहावसान के पश्चात् मैं इन त्रुटियों का अपनी दृष्टि में रख कर कुछ कार्य करूँ ताकि मेरे दायित्वों के प्रति कोई भी हिन्दी प्रेमी उँगली न उठा सके।

महाप्राण के देहावसान के एक वर्ष के भीतर ही मेरे निर्देशानुसार उनकी यह कृति सुन्दर सुसज्जित रूप में हिन्दी संसार के सम्मुख प्रस्तुत हो रही है। मैं भली भाँति इस बात से सुपरिचित हूँ कि अनेक शुभचिन्तक अनेक प्रकार की बातें मेरे समक्ष प्रस्तुत करेंगे, मैं उन्हें सुझावों के लिए आमंत्रित करता हूँ ताकि मेरा पथ निर्देश होता रहे।

प्रस्तुत प्रकाशित कृति की आलोचना प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य नहीं है इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस कृति को हिन्दी के अध्येताओं ने साहित्य की उपलब्धि माना है। हिन्दी के पाठक,

विद्वान जिस प्रकार महाप्राण की कृतियों को जो सहज महत्व प्रदान करते रहे उसी प्रकार वे अभी भी सहयोग पूर्ण महत्व देते रहेंगे, ऐसी मुझे आशा है । मैं व्यक्तिगत रूप से श्री उमानाथ त्रिपाठी व्यवस्थापक, निरुपमा प्रकाशन का आभारी हूँ जिनके अथक परिश्रम का ही परिणाम है कि यह पुस्तक सुन्दर रूप में प्रकाशित हो सकी । इस पुस्तक के प्रकाशक श्री जे० एस० खन्ना तथा निरुपमा प्रकाशन के अवैतनिक हिन्दी-निर्देशक प्रोफेसर विजय कुमार शुक्ल को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी विशेष रुचि के द्वारा मुझे सहयोग प्रदान किया है ।

१४ अक्टूबर, १९६२  
दारागंज, प्रयाग

—रामकृष्ण त्रिपाठी



## निवेदन

‘चाबुक’ मेरे लेखों का तीसरा संग्रह है। अधिकांश लेख सन् २३, २४ के लिखे हुए हैं। ‘चाबुक’ शीर्षक से मैं एक दूसरे नाम से ‘मत-वाला’ में व्याकरण पर आलोचनाएँ लिखा करता था। आलोचना यथार्थता लिए हुए जितनी भी हों, कटुता लिए हुए अवश्य थीं। आज जिन लेखकों और सम्पादकों पर मेरी श्रद्धा है, उन्हें, उस समय, मैंने अपनी श्रद्धा नहीं दी। मैं करवद्ध होकर कटुता से समालोचित पूज्य साहित्यिकों से क्षमा चाहता हूँ। उस कटुता को ज्यों का त्यों इसलिए जाने दे रहा हूँ कि देखूँ, अगर कुछ सत्य भी है तो वह कितनी कटुता हड़म कर सकता है। मुझे विश्वास है, पढ़ने पर पाठकों का श्रम जिस तरह सूक्ष्मता-दर्शन से सार्थक होगा उसी तरह मेरे तत्कालीन मनोभाव और अज्ञता के परिचय से प्रफुल्ल।

मैं उमाशंकर सिंह जी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इनका संग्रह किया है।

‘निराला’



## क्रम

लेख :	पृष्ठ
१—मौन कवि	६
२—कविवर विहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र	१६
३—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	३३
४—काव्य-साहित्य	४३
५—कला और देवियाँ	६३
६—वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति	७१
७—ब्रह्मता हुआ फूल	९१
८—चरित्रहीन	९६
९—चाबुक	११३



भौन कवि

.



गर्भियों में प्रायः डेढ़ महीना ( मुझे ) डल्मऊ, रहना पड़ा । डल्मऊ रायवरेली जिले का एक सब-डिवीज़न है, मेरी ससुराल । पहाड़ जाने की अक्षमता ने ससुराल की ओर मुँह फेरा । कई साल नहीं गया था । फलतः तीसरे दिन लौटने की नौबत नहीं आयी । पहले का कुछ त्याग भी था । ससुर जी आधा हिस्सा अपनी वेटी को दे रहे थे—मैंने नहीं लेने दिया, कहा, 'एक तरफ़ बाप का आधा हिस्सा है, दूसरी तरफ़ पूरा मैं, एक लो ।' श्रीमती जी ने मुझे ही पसन्द किया । एक कारण और है; मैंने श्रीमती जी की खाली जगह नहीं भरी, प्रायः बीस साल हुए, इसलिए सासु जी मुझे अपनी वेटी समझती हैं और सलहज साहिबा, ननद । बड़े आनन्द. से रहा । काफ़ी पोइट्री ( कविता ) मिली । दोनों वक्त गंगा नहाना, डटकर भोजन करना, एक वक्त कसरत, फ़ालतू समय सलहज साहिबा से ब्रजभाषा-काव्या-लाप । सलहज साहिबा छोटी हैं, पद में, यों कई वच्चे की माँ हैं; घूँघट काढ़ती हैं, लेकिन छायावाद लिखते-लिखते मश्क़ ऐसी बढ़ी है

## चाबुक

कि भीने घूँघट के भीतर उनके सुन्दर मुख की छाँह मेरी निगाह में साफ़ रंग, रेखा, भाव और ज्योति लिये प्रतीत होती थी। वह समझती थी—मैं पर्दे में हूँ, मैं समझता था—मैं मजे में देख रहा हूँ।

फ़ैज़ाबाद में लेक्चर्स में नहीं गया। कई जगह कवि-सम्मेलन का सभापतित्व था, लिखा—इलाज करा रहा हूँ। कई जगहों से वैवाहिक निमंत्रण आये, लिख दिया—अब विवाह में मैं नहीं जाता, मुझे भावावेश होता है। सम्पादकों ने रचनाएँ माँगीं, समझा दिया लिखकर, विहारी का है, किसका है, वह वाद वाला टुकड़ा—जगत तपोवन मय कियो।

घर में जैसा आनन्द, बाहर भी वैसा ही। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी पं० गिरिजादत्त जी त्रिपाठी के यहाँ गीतवाद्य लगा ही हुआ। देश भर के गुणी आते-जाते हैं, कभी अच्छे आये तो कभी नौरंग। बटमार तो रोज़ दो-चार पहुँचते हैं, जिन्हें रास्ता चलते आटा-दाल की जरूरत होती है। ज्योतिषी जी और उनके छोटे भाई वैद्यरत्न जी (मंभू महाराज) बड़ी पैनी निगाह के आदमी, साथ ऊँचे दर्जे के सभ्य, देहात में जैसे व्यक्ति अलभ्य कहे जाते हैं। सबकी इज़्ज़त, सबकी प्रशंसा करने वाले। मेरी शादी पंडित जी के पूज्य पिता ने तय की थी, ज्योतिषशास्त्रानुसार यद्यपि नहीं बनती थी—मैं मंगली था, फिर भी वह वहाँ के बृहस्पति थे—उन पर सबकी श्रद्धा थी, न जाने किस तरह बनाकर मेरे ससुर जी को विवाह करने के लिए समझाया, मेरे पिता जी ने भी उनकी खुशामद की होगी—संदेह नहीं, कारण मेरे ससुर जी की लड़की उनकी पुत्रवधू हो—कई साल से उनका ध्यान था, मैं जानता था। अस्तु, तब से इस ज्योतिषी-परिवार पर मेरी बड़ी श्रद्धा है। ये लोग मुझे कुल-कमल कहते हैं। सुनने में मुझे बुरा नहीं मालूम देता। प्रायः उनके यहाँ जाया करता था। देर हो।



जाती थी, तो मंभू महाराज बुला भेजते थे । दो बजे से छः बजे तक ताश होते थे, ब्रिज नहीं, न टुएंटी नाइन—न लिट्रेचरन ब्लैक कुइन—न स्कू, बस सात हाथ । ठंढाई और गंगास्नान के बाद कसरत और फिर संगीत । प्रातःकाल गोश्त पकाने में व्यतीत होता था, या किसी कवि या विद्वान की किताबी प्रतिभा में । आनन्द का आकर्षण ज़बर्दस्त होता है । मैरिस कालेज, लखनऊ, के मृदंगाचार्य पं० सखाराम जी रह नहीं सके, डल्मऊ आये, मुझे स्नेह करते हैं, चि० रामकृष्ण उनका शिष्य है, यद्यपि उसके साथ एक बार आ चुके थे, फिर भी, इस बार मेरे मुख से ग्रीष्म की शीर्ष स्वच्छतोया प्रखरा गंगा का माहात्म्य सुना था, लखनऊ में जब मैं था, और साथ-साथ मेरे ससुराल के संबंध में अतिशयोक्ति अलंकार, जिसमें घन-वृत्त-पत्रच्छायाच्युतरश्मि लेखा शीत-सैकत-सलिला डल्मऊ की प्रभात-वेला की वर्णना थी, पर धूल और बालू से धुआँधार गर्मा की दुपहर का ज़िक्र न था । स्वप्न ज्योत्सनामयी विमला क्षण-कल्प तरला पश्चिम-समीर शीतला रात्रि का वर्णन तो था, पर मच्छड़ों के अविराम भनभनाने और काटते रहने की बात न थी । पं० सखाराम जी ३-४ दिन रह कर चलते समय मुस्किराते हुए बोले, वास्तव में बड़ा आनन्द आया ।

एक दिन दोपहर को बेंती चलने की बात हुई, नाव से डल्मऊ से पाँच मील पूर्व है । पहले मंभू महाराज से भौन कवि के कवित्त सुन चुका था । यह भी मालूम कर चुका था कि भौन बेंती के थे । पहले मेरी स्त्री की एक महाराजिन गार्जियन थी, वह बेंती की थी, इसलिए बेंती में कविता विशेष मिली, मैं चलने को राज़ी हो गया । हम लोग चले । नाव पर पं० गिरिजादत्त जी, मंभू महाराज, मुन्नु बाबू, पं० गिरिजादत्त जी के एक रिश्तेदार और मैं । तरह-तरह की बातें होती रहीं, भौन कवि के सम्बन्ध में खास तौर से । पं० जी बन्दूक

## चाबुक

लिये हुए थे। घड़ियाल देखते जाते थे। एक बड़ा कलुआ फिनारे से कूदा। घड़ियाल की माँद खाली थी। अमरूद के बगोचे मिले, मैं कई बार वहाँ जा चुका था। एक रेती पर कुछ चिड़ियाँ बैठी थीं, दरियाई। इच्छा हुई कि कहूँ—एक फायर कीजिए। पर रुक गया। पं० जी मारते हैं, खाते नहीं।

बेंती आयी। एक कुत्ता मिला, पागल-पागल-सा। पं० जी ने बन्दूक दिखाई, तो वह दुम हिलाने लगा। गाँव का था। गाँव जाते देखा, तो वह भी साथ हो लिया। जिसके नज़दीक होता, वही कसौली सोचकर घबराता, ढेले उठाकर और ढेले चलाना छूटा, न कुत्ते का पीछा करना। तब तक बात हो गयी थी कि पागल कुत्ता पीछे से काटता है।

बेंती आयी। छोटा गाँव, ऊँचे कगार पर बसा है। सामने गंगा बगल से रास्ता। हम लोग चढ़े। कुँआ मिला। घड़े भरे एक स्त्री। पं० गिरिजादत्त जी ने कार्य-सिद्धि का कोई मंत्र पढ़ा। मैंने मन में कहा, 'पहले कुत्ता मिला है, तब यह कुछ नहीं बोले, देखा जाय क्या होता है।'

भीतर हम लोग एक कान्यकुब्ज कुलीन श्रीमान् के यहाँ आये। पं० जी ने पूछा नौकरों से, तब तक वह स्वयं अपने रब्बे पर कहीं से आ गये। बातचीत हाने लगी। पं० जी परिचित थे, हम लोग अपरिचित। परिचय हुआ। पं० जी ने मेरे लिए कई 'तम' एक वाक्य में जोड़े। कान्यकुब्ज महाशय भी एक 'तम' थे। साम्य की प्रिय भावना से मुझे देखा। फिर बातचीत होने लगी वैवाहिक। अब मैं वहाँ जाने का कारण समझा। उठकर मुन्नु वावू के साथ भीन कवि का भवन देखने चला। उस समय कान्यकुब्ज महाशय आस्पद, घर, आँक, शिखा-सूत्र न-जाने क्या-क्या पूछ-पूछकर लिख रहे थे।

देख-दाखकर हम लोग लौट आये। फिर सबके साथ नाव की ओर चले।

कुछ दिन बाद मालूम हुआ, भरे घड़े की अपेक्षा कुत्ते वाला प्रभाव बलवान हुआ।

भौन कवि नरहरि के वंशज हैं, सेवक के खानदानी। नरहरि पहले बेंती के रहने वाले थे, फिर असनी में बसे थे। भौन, गौरा नरेश भूपाल सिंह के समय थे। 'मिश्र बन्धु विनाद' में इन भौन का जिक्र है या नहीं, नहीं मालूम, जहाँ तक स्मरण है, एक दूसरे भौन का जिक्र है। 'भौन' ब्रह्मभट्ट थे। इनके पुत्र, दीन दयाल 'दयाल' कवि थे। भौन की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई, पूछने पर मंभू महाराज से मुझे ऐसा ही मालूम हुआ। यहाँ कुछ रचनाएँ भौन की देता हूँ। ये मंभू महाराज को याद थीं, मैंने लिख लीं। भौन में अच्छा कवित्व मालूम दिया। दयाल पिता के-जैसे नहीं।

भौन की रचनाएँ—

( १ )

चूँ-चूँ करेँ चहुँ ओरन ते भकभोर करेँ बड़े भोर ते जागै,  
ग्राम के गँड, अराम के पेड़, रहीं भुकि मेंड में मूज की मार्गै ।  
टूटि गए गोफना के फना, करतारी बजाये भगाए न भागै,  
पार न पावै गलारन तें, यहि हार में हुरा हजारन लागै ।

यह सुन्दर रचना है। इससे भौन की काव्य-प्रतिभा का पता चलता है।

( २ )

मुसका बंधावै, बैल चुसका न पावै,  
घास-घुसका रखावै, कहेँ यहाँ काम आवैगो ।

फरुहा, कुदारी दारी सुरपी न आवै खेत,  
हरकी नसी ते जोर जर की बचावैगो ।  
भोन कवि कहै हाँकी हाँका ते चराये लेत,  
जंगल के बीच में कहां लौ कौन धावैगो ।  
जैसी ये जमीन भोन पायी बर्दहा के बीच,  
तैसी कबिराज कहूँ पायी है, न पावैगो ।

( ३ )

त्रेता में न उठी श्री न द्वापर में जोती गयी,  
आनि कलिकाल में बटाई भई दाना की ।  
जामि कै जवास और जरैला जर किस रहे,  
नारे के किनारे कुसी कास हरिआना की ।  
भोन कवि कहै हेरि फेरि कै बतावै वहै,  
ऐसे महापातकी न मानै दाब राना की ।  
आप तो लिखी है ठीक दुई की सनद,  
पर इलति इलाकेदार देत चारि आना की ।

( ४ )

जैहै फूटि फूटि सी तमाम तोप तोड़वाली,  
कूटि जैहै काबिल कमाल फोज बानाते ।  
टूटि जैहै देश को दिमाग, जोर छूटि जैहै,  
लूटि जैहै लाखन को मोल तो सखाना ते ।  
भोन कवि कहत खोदाय की खबर करी,  
पीछे पछतावगे खराब खून खाना ते ।  
बैरिन की बनित सिखावतीं एकंत, कंत,  
कीजिए न राखि बेनीमाधोवक्स राना ते ।

( ५ )

भौन भौन छोड़ें नहीं, गौरापति की आस,  
बहु नरेश यहि देश में जात न काहू पास ।

( ६ )

दीरघ दुकूल घरे देवता बजाज बैठे,  
पय को पसार पुण्य पूरो रोजगार है ।  
सेत-सेत रेत रूप-रासि पै सराफ साफ,  
सवदा के लेत ही सुखद अलगार है ।  
भौन कवि कहैं सारे बनिक विहंगन को,  
बाजत मृदंगन तरंगन को तार है ।  
सूभ्रता न वारपार करै को विचार सार,  
कैंधों, गंग-धार कैंधों मुक्ति की बजार है ।

( ७ )

ऐसे महापातको प्रसिद्ध पुहुमी में; जिन,  
बालपन ही ते काम कीनो है अघम के ;  
पुन्य को न लेश श्री पुनीत ना पुरातम के,  
पूरित परे रहे प्रवेस तेह तम के ।  
भौन कवि कहे भागीरथी के समीप आय,  
भटकैं न काहू लखि कौतुक भरम के ।  
रहे जात कागद करम के न कहे जात,  
बहे जात वारि में, न गहे जात जम के ।





कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र





यह छोटा सा-लेख इस उद्देश्य से नहीं लिखा जा रहा कि तराजू के एक पलड़े पर बिहारी और दूसरे पर रवीन्द्रनाथ को बैठाकर दोनों कवियों की कवि-प्रतिभा तौली जाय। बिहारी महाकवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु रवीन्द्रनाथ केवल भारत के नहीं, संसार के महाकवि हैं। बिहारी के काव्य-विवेक में उतनी नवीनता नहीं जितनी रवीन्द्रनाथ की कविता में है। बिहारी ने किसी नये छन्द का आविष्कार नहीं किया, कोई ऐसा अनूठा भाव नहीं दिखलाया जिसे अपनाने के लिए संसार भर के मनुष्यों को लालच हो। रवीन्द्रनाथ में ऐसे एक नहीं, अनेक छन्द हैं—अनेक भाव हैं। बिहारी के काव्य-क्षेत्र से रवीन्द्रनाथ का काव्य क्षेत्र बहुत प्रशस्त है—बहुत विस्तृत है। बिहारी की प्रतिभा हिन्दी ही के हाव-भावों को मुग्ध करती है, रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा संसार भर के भाव-सौन्दर्य को चमत्कृत करती है। दोनों में बड़ा अन्तर है। सम्भव है, यदि बिहारी रवीन्द्रनाथ के समय के कवि होते तो उनके काव्यों में भी विश्व-भाव के

46588

## चाबुक

संगीत सुन पड़ते। परन्तु जो नहीं हुआ और नहीं मिलता, उसके लिए न सम्भावना बतलाने की आवश्यकता है, न उसकी प्राप्ति के लिए समर्थन करने की जरूरत है। विहारी के आने से हिन्दी में किसी नवीन युग का आविर्भाव नहीं हुआ, परन्तु रवीन्द्रनाथ युग-प्रवर्त्तक हैं। अस्तु, अब दोनों के शृंगार-चित्रण के चमत्कार देखिए। पाठकों के मनोविनोद के लिए कुछ पद्य हम उद्धृत करते हैं। इससे पहिले हम इतना और कह देना चाहते हैं कि हिन्दी की प्राचीन प्रथा के अनुसार विहारी ने किसी एकभाव को एक ही दोहे में समाप्त कर दिया है, परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों का तार पद्य की कुछ लड़ियों के समाप्त न होने तक बँधा रहता है। यों तो पढ़ने में कितने ही भावों का समावेश जान पड़ता है, परन्तु उनमें भी एक पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है। दूसरी बात यह है कि विहारी नायिकाभेद बतलाते हैं, परन्तु रवीन्द्रनाथ स्त्रियों के स्वभाव का चित्रण करते हैं। विहारी के भावों से विकार पैदा हो सकता है परन्तु रवीन्द्रनाथ के भावों में वह बात नहीं, उनके भावों से केवल अनुराग ही बढ़ता है।

अच्छा, लज्जा पर विहारी और रवीन्द्रनाथ दोनों की कुछ उक्तियाँ देखिए—

“लखि दौरत पिय-कर-कटक, वास छुड़ावन काज ।

वरुणी-बन हग-गढ़नि में रही गुढ़ा करि लाज ॥”

टीकाकार पं० पद्मसिंह जी लिखते हैं—“रति के समय, विहारी नायक ने नायिका के अंग से वस्त्र उतारने में हाथ बढ़ाया है। लज्जा ने देखा कि अब खैर नहीं; यह स्थान भी छिना। सो वह

## कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

बेचारी आँखों के किले में, जिसमें बरौनी का वन छाया हुआ है, आ छिपी है।”

हम इसका ध्वन्यात्मक अर्थ स्वयं न लिखकर टीकाकार के अर्थ का ही अंश उद्धृत किये देते हैं :—

“नायिका के सारे शरीर-देश पर लज्जारानी का राज्य था। सो उस पर गनीम (नायक) ने बाह्य रवि-संगर में अपना अधिकार कर लिया। वहाँ से लज्जा की अमलदारी उठ गयी। केवल उसका निवास ‘वर-मण्डप’ में साड़ी की छोलदारी में रह गया था। बेचारी वस्त्र के नीचे जैसे-तैसे आकर छिपी पड़ी थी, उसने देखा कि अब उसे छीनने को भी कर-कटक-दस्त राजी का लश्कर बढ़ा आ रहा है, अब यहाँ भी रक्षा नहीं, सो वह वस्त्र रूपी वास स्थान को छोड़कर आँख के सुदृढ़ गढ़ में जाकर छिप गयी। कुल-बाला की आँख, लज्जा का प्रधान स्थिति-स्थान है, वहाँ से उसे हटाना जरा टेढ़ी खीर है।”

कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ की लज्जा दूसरे ही ढंग से व्यक्त होती है। इसलिए लज्जा विषयक एक ही ढंग का उदाहरण हम नहीं दे सकते। रवीन्द्रनाथ की नायिका कुरूप है। रूप न होने पर भी वह अपने प्रियतम को गुप्त भाव से प्यार करती है। उसी की उक्ति है :—

जार नवीन सुकुमार कपोलतल  
कि शोभा पाय प्रेम लाजेगो ।  
जाहार ढलढल नयन शतदल  
तारेइ आँखी जल साजेगो ।  
ताई लुकाये थाकी सदा पाछे से देख,  
भालो वासिले भरी सरमे ।

रूघिया मनोद्वार प्रेमेर कारागार  
रचेछि आपनार भरमे।

कुरूपा नायिका आक्षेप कर रही है। प्रियतम से मिलने की उसे कोई आशा नहीं। परन्तु वह प्रेम नहीं छोड़ सकती। कहती है—  
‘जिसके कपोल तल नवीन और सुकुमार हैं, प्रेम की लज्जा से उसकी कितनी न शोभा होती होगी। जिसके नयन शतदल डबडबाये हुए ही बने रहते हैं, आँसू वस उसे ही सजते हैं। वह मुझे कहीं देख न ले, इस भय से मैं सदा छिपी रहती हूँ। प्यार करने को (क्या कहूँ) लज्जा से ही मरी रहती हूँ। ‘मन का द्वार बन्द करके, मैंने अपने मर्म के ही भीतर प्रेम का कारागार रचा है।’

विहारी जो कुछ कह जाते हैं उसमें कहने को कुछ बाकी नहीं रखते। परन्तु रवीन्द्रनाथ जहाँ अपनी अक्षमता बतलाते हैं वहाँ पढ़ने वाले भी समझते हैं कि यह भाव का समुद्र शब्दों के बाँध से नहीं बाँध सकता। विहारी के दोहे के समाप्त होने के साथ ही उनका भाव भी समाप्त हो जाता है, पाठकों के लिए कुछ सोचने की बात नहीं रह जाती, कोई भाव कुछ देर के लिए अपना प्रभाव नहीं छोड़ा जाता। परन्तु रवीन्द्रनाथ का संगीत समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक कानों में उसका स्वर बजता रहता है। विहारी की नायिका आँखों के किले में छिप गयी। तो फिर क्या हुआ, वस एक सुन्दर चित्र आँखों के सामने आया और अलग हो गया। परन्तु रवीन्द्रनाथ की नायिका हृदय में कारागार रचती है और वहीं अपने प्रियतम को कैद कर रखती है। यह ध्वनि आप गूँजती है, इसकी भनकार कवि की अँगुलियों से नहीं होती। एक बात और ‘तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति-रंग। अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।’

## कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

यह गुण बिहारी में नहीं, यह रवीन्द्रनाथ में पाया जाता है। बिहारी तटस्थ रहते हैं, रवीन्द्रनाथ डूब जाते हैं। बिहारी को सदा अपने कवि होने का ज्ञान रहता है—बिहारी खुद नायिका नहीं बन जाते, परन्तु रवीन्द्र नाथ स्वयं नायिका बन जाते हैं। इसीलिए कविता और खिल पड़ती है। बिहारी चित्रण-कुशलता दिखाने की फिक्र में रहते हैं परन्तु रवीन्द्रनाथ अपने विषय में मिल जाते हैं, इसीलिए जब आगे अथाह भाव उमड़ पड़ता है तब तल्लीन कवि भाव ही देखता रह जाता है, और जो कुछ थोड़ा सा लिख जाता है वस उतने ही से पाठक भाव-महोदधि का उच्छ्वास समझ जाते हैं।

दीप उजेरेहू पतिहिं हरत वसन रति काज ।  
रही लपटि छवि की छटनि नैको छूटी न लाज ।

—बिहारी

‘दीप के प्रकाश में, वस्त्र हर लेने पर भी, लज्जा न छूट सकी, निरावरणकाय-कान्ति की छटा ऐसी छा गयी कि उसने अनावृत अंग को ढाँप लिया। कान्ति की छटा ही दीखती है, उसकी चकाचौंध में शरीर नज़र नहीं आता।’

—पद्मसिंह शर्मा ।

कुछ बिहारी की कल्पना है, उस पर पद्मसिंह जी भी कल्पना लड़ाते हैं। बहुत जगह चमत्कार पैदा करने में बिहारी से जो कुछ कोर-कसर रह जाती है उसे पद्मसिंह जी पूरा कर देते हैं। खैर, अब रवीन्द्रनाथ की कुछ उक्तियाँ देखिए :—

“भेबै देखौ आनियाछौ मोरे कोन खाने ।

शत-शत आंखी भरा कौतुक-कठिन धरा

चेये रबे अनावृत कलंकैर पाने ।”

## चातुक

नायिका अपने नायक से कहती हैं—‘तुम मुझे कहाँ ले आये हो । ज़रा सोचते तो सही । यह कौतुक-कठोर संसार करोड़ों आँखें मेरे अनावृत कलंक की ओर हेरती रहेंगी ।’

भालावासा ताम्रो यदि फिरे नेवेशे,  
केन लज्जा केडे निले, एकाकिना छेडे दिले,  
विशाल भवेर माभे विवसना-वेशे ।

‘एक मात्र प्यार रह गया था, वह भी अन्त में यदि वापस लेना था तो तुमने मेरी लज्जा क्यों छीनी ? इस विशाल संसार में मुझे अकेली और विवस्त्रा करके छोड़ दिया ।’

भांगिया देखिले छि छि नारीर हृदय,  
लाजे भये थर थर भालोबासा सकातर  
तार लुकाबार ठांड काडिले निदय ।  
नितान्त व्यथारे व्यथी भलो वासा दिवे  
सजतने चिरकाल रचित दिवे अन्तराल  
नग्न करे छित्तु प्राण सेई आशा निये ।  
मुख फिरतेछो सखा आज कि बोलिया ।  
भूल करे ऐसे छिले ? भूले भालो बेसे छिले ?  
भूल भेंगे गेछेताइ जेतेछो चलिया ?

—रवीन्द्रनाथ

‘छि: नारी हृदय को तुमने देखा तो उसे तोड़ कर देखा । निर्दय : जो लज्जा और भय से काँप रही थी, प्यार के लिए ही जिसकी करुणा उमड़ चली थी, उसके छिपने की जगह भी तुमने छीन ली । मैंने सोचा था तुम सहृदय हो, अपने प्रेम और यत्न से मेरे लिए चिरकाल तक रहने का एक अन्तराल ( गुप्त जगह ) रच दोगे ।

## कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

इसी आशा से मैंने ( तुम्हारे सामने ) अपने प्राणों को नग्न कर दिया था । प्रिय ! अब इस तरह मुंह फेर रहे हो ? क्या तुम आये थे तो कोई भूल की थी ? प्यार किया, वह भी भूल ही थी ? अब अपनी भूल समझ गये इसलिए चले जा रहे हो ?

छूटे न लाज न लालचो प्यो लखि नैहर गेह ।  
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥

—बिहारी

‘नायिका पीहर में है, वहीं नायक देव पधारे हैं, नायिका मिलना चाहती है, पर नहीं मिल सकती । उसकी आँखों में प्रिय से मिलने का लालच और पीहर की लाज दोनों बराबर भरे हैं । न वह लालच ही छूटता है न यह लाज ही छूटती है और न इस दशा में व्याकुलता ही कम होती है ।’

—पद्मसिंह

‘भवे प्रेमेर आँखी प्रेम काडिते चाहे, मोहन रूप ताई धरिछे ।  
आमी जे आपनाय फुटाते पारी नाइ, परान केंदे ताइ मरिछे ।

—रवीन्द्रनाथ

‘संसार में प्रेम की आँखें प्रेम छीन लेना चाहती हैं । इसीलिए वे मोहन रूप धारण कर रही हैं । परन्तु हाय ! मैं तो अपने को खिला नहीं सकती । मेरा जी यही सोच-सोच कर रो रहा है ।’

रवीन्द्रनाथ की नायिका अपने ही प्रियतम की आँखें नहीं देखती वह संसार भर की आँखों का प्रेम की कसौटी में कस रही है । वह सभी आँखों में प्रेम छीन लेने की चाह देखती है । इस चाह से संसार की आँखों में सुकुमार सौंदर्य की कैसी झलक आ जाती है । प्यार

## चावुक

करने वालों का स्वरूप किस तरह विकसित हो जाता है, इसे भी वह ध्यान पूर्वक देख रही है। परन्तु अपने भाव-सौंदर्य का उसे ज्ञान नहीं है। वह अपने को कुरुरा समझती है। इसका कारण वह यह बतलाती है कि मैं अपने को खिला नहीं सकी। यहाँ रवीन्द्रनाथ दर्शन की युक्ति से भी नायिका के वाक्य की पुष्टि करते रहे हैं। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है उसका चित्र उतना ही सुन्दर होता है। सौंदर्य की ही कल्पना को लोग ललितकला का मुख्य आधार कहते हैं। यही बात मनुष्य के स्वरूप के लिए भी संधटित होती है। गत जन्म में जीव में सौंदर्य को जैसी कल्पना थी, इस जन्म में उसे वैसा ही रूप मिला है। असभ्य जातियों में ललितकला का अभाव है इसीलिए वे कुरुरा होते हैं। रवीन्द्रनाथ की नायिका सौंदर्य-कल्पना की कमजोरियों के लिए ही आक्षेप करती हुई कहती है, 'मैं अपने को खिला नहीं सकी' थोड़े ही शब्दों में भाव कितने गम्भीर और ललित हैं। दूसरी खूबी रवीन्द्रनाथ में यह है कि उनकी नायिका को संसार के सब देशों के मनुष्य अपनी नायिका समझेंगे। कितनी ही जगह बंग-वालाओं का चित्रण करने के कारण रवीन्द्रनाथ की कविता में प्रान्तीयता आ गयी है। परन्तु कहीं-न-कहीं, वहाँ भी कवि की वाग्णा से विश्वभाव के संगीत निकल आते हैं।

पति रति की बतियाँ कही सखी लखी मुसकाय ।

कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय ॥

—बिहारी

नायिका के पास कुछ सखियाँ बैठी इधर-उधर की बातें कर रही थीं। नायक ने वहाँ पहुँच कर नायिका से चुपके से एक गुप्त प्रस्ताव कर



## कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

दिया, जिसका भाव समझ कर चतुर सखियाँ वहाने बना-बना कर वहाँ से उठ खड़ी हुईं, मकान खाली कर गयीं ।

—पद्मसिंह शर्मा

ऐसी उक्तियों में विकार की मात्रा आवश्यकता से अधिक है । पतिदेव थोड़ी देर के लिए भी धैर्य नहीं रख सके । दूसरों की स्त्रियों के बीच में कूद पड़े और अग्रणी (urgent) प्रार्थना सुना दी । यही एक बात देख पड़ती है कि अनंग की तरंग में पतिदेव और पत्नीदेवी के साथ-साथ (कै कै सवै टलाटली अली-चली सुख पाय) सखियाँ भी चह जाती हैं ।

इस तरह का विकार रवीन्द्रनाथ की कविता में नहीं आने पाता :

तब अवगुणठन खानी आमी केड़े रेखे छिनु ठानी ।  
आमी केड़े रेखे छिनु वक्षे तोमार कमल-कोमल पाणी ।  
भावे निमीलित तव नयन युगल सुखे नाही छिलो वाणी ।  
आमी शिथिल करिया पाश, खुले दिए छिनु केशराश ।  
तव आनमित मुखखानी । सुखे थुये छिनु बुके आनी ।  
तुमो सकल सोहाग सयेछिले सखि, हासी मुबुलित सुखे ॥

‘मैंने तुम्हारा घूँघट खाल डाला था । कमल के सदृश तुम्हारा कोमल हाथ तुमसे छीनकर अपने हृदय में रख लिया था । भावावेश में तुम्हारी अधखिली आँखों की कैसी शोभा थी । मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला था । फिर बन्धन शिथिल करके, मैंने तुम्हारी केशराशि खोली थी । तुम्हारे नतमस्तक को अपने हृदय में रख लिया था । सखि ! ये सुहाग सहते हुए भी तुम्हारा मुख हास्य-मुकुलित (हँसी से

चाबुक

खिला हुआ ) था ।' देखिए प्रेम का चित्र खिंच जाता है । कहीं विकार का नाम तक नहीं ।

सकुच सुरत आरम्भही बिल्लुरी लाज लजाय ।  
दरकि डार डुरि दिग भई दीठ दिठाई आय ।

—बिहारी

‘सुरत के आरम्भ में ही नायिका का संकाच मानों लज्जा से लजाकर विदा हो गया । लज्जा भी लज्जित होकर चलती बनी । और दीठ जो दिठाई है, सो आकर अच्छी तरह प्रसन्न होकर, सरक कर समीप आ गयी । लज्जा के दूर होते ही दिठाई पास सरक आयी ।’

—पद्मसिंह

‘दुठी रिक्त हस्त सुधू आलिंगने भरी  
करठे जडाइया दाव, मृणाल परशे  
रोमांच अंकुरि उठे मरान्त हरषे,—  
कम्पित चंचल वक्ष, चक्षु छल-छल  
मुग्ध तनु भरि जाय, अन्तर केवल  
अंतर सीमान्त प्रान्ते उद्भासिया उठे  
एखनी इन्द्रिय बन्ध बुझी टूटे-टूटे ।  
सुम्बन मांगिवो जबे ईषत् हासिया—अयि प्रिया ।  
बाँकायो न श्रीवा खानी, फिरायो ना मुख,  
उज्ज्वल रक्तिम वर्ण सुधापूर्ण सुख  
रेखो ओछटाधर-पुटे, भक्त-भृंग तरे  
सम्पूर्ण सुम्बन एक हासी—स्तरे-स्तरे  
सरस सुन्दर.....।’

—रवीन्द्रनाथ

## कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र

‘मुझे अपनी बाँहों में भर लो। तुम्हारे निराकरण बाहुओं के छू जाने पर, मुझे इतना हर्ष होगा कि मेरे रोमांचों में सजीवता आ जायगी, वे अंकुरित हो उठेंगे। तुम्हारा कम्पित हृदय, छलछलायी आँखें और अनुराग-मुग्ध शरीर ! अंगों के सीमान्त प्रदेश में एक-मात्र तुम्हारा अन्तर उद्भासित होता रहे, जिसे देखकर इंद्रियों के बन्धन शिथिल पड़ जायें; यही अनुभव हो कि अब इंद्रियों के बन्धन टूटते ही हैं। प्रिये, जब जरा मुसकराकर मैं चुम्बन माँगूंगा तब अपनी ग्रीवा न मरोड़ना, मुँह न फेरना, अरुणोज्ज्वल ओष्ठाधरों में वही सुख जिसमें सुधा परिपूर्णा है, रखो छोड़ना और अपने भक्तभृंग के लिए रखना हास्य की सरस और सुन्दर हिलोरों से भरा एक सम्पूर्णा चुम्बन।’

पाठक। देखी आपने कल्पना की उड़ान और चित्र-चित्रण।









ईसवी सन् १९२८ का शरत्काल; ज्वार और वाजरे के पेड़ों की बाढ़ प्रायः पूरी हो चुकी है। कोई-कोई पेड़ गभुवारे; वाली और भुट्टे फुनगी के पत्तों में छिपे हुए। किसी-किसी ने सुन्दरी बहू की तरह थोड़ा-सा घूँघट उठाकर पृथ्वी पर परिचय की दृष्टि डाली है। वर्षा का वेग मन्द; शीत के आगमन की सूचना मज्जे में मिल रहा है। सारी प्रकृति एक स्तब्धता धारण किये हुए। बरसाती नदियों का पानी काफी घट गया है। किनारों के घास फूले हुए हवा में भूम-भूम जाते हैं। बागों में घास कमर तक, कहीं-कहीं छाती तक आ गई है, भँजूर और जनेवा की सुगन्ध धरमपुर और शिमले की याद दिलाती है। किसान बड़ी लगन से हल चला रहे हैं। रबी की फसल बोने का समय आ गया है। सुबह की साधारण ओस-पड़ी घास से आती स्निग्धता फूलित रंग-विरंगी किरनें, चिड़ियों की चहक, जंगली फूलों की सुगन्ध, हल की मूठ पकड़े पाटे लगाते किसानों की तेजी, मन की एक नई आँख खोल देती दिल में एक दूसरी ला देती है। शाम की स्तब्धता शरत्

## चाबुक

की शुभ शान्ति का चित्र खींच देती है। मृत्यु के बाद के नये जीवन की तरह काम की नयी सूरत सामने आती है। इस स्तब्धता से जैसे कुल विरोध दबकर मर जाता है और रचना की नवीनता अपनी जीवनदायिनी कला से चपल हो उठती है। गाँव में हूँ, एकाएक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का हिन्दू विश्वविद्यालय से पत्र मिला, हमारे यहाँ हिन्दी परिपद में रहस्यवाद और छायावाद पर व्याख्यान दीजिए। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इस परिपद के उपसभापति, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी सभापति और श्री सोहनलाल द्विवेदी सेक्रेटरी थे। एक ही भाषण मैंने अब तक दिया था, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता में। सभापति महामना मालवीय जी थे। श्री जे० एल० वनर्जी के हिन्दी-विरोधी धारा-प्रवाह अँग्रेजी भाषण के जवाब में बोला था। पूज्य मालवीय जी, जनमण्डली तथा मित्रों से तारीफ पा चुका था, डर छूट चुका था। मैंने वाजपेयी का आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

उन दिनों छायावाद की जोरों से मुखालिफत थी, आज के प्रगतिवाद की जैसी। प्रगतिवाद संभवतः साहित्यिक प्रचेष्टा है, छायावाद इनेगिने साहित्यिकों का प्रयत्न था। हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र, अध्यापक तथा काशी के साहित्यिक इस व्याख्यान के सुनने के लिए बड़े उत्सुक हुए। हर निगाह में, मुझे आग्रह दिखा। काशी चलकर मैं वाजपेयी जी के यहाँ ठहरा। वाजपेयी जी आर्य-भवन में रहते थे। पहले दो-एक बार उन्हें देख चुका था, खत-किताबत जारी हो चुकी थी, अब नज़दीक से अच्छी तरह देखने का मौका मिला। गौरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, साधारण क्रम, स्वस्थ देह, स्वच्छ खादी के वस्त्र, स्वाभाविक प्रसन्नता, पास रहने वालों को खुश कर देने वाली शालीनता तथा संयत भाषा, हृदय पर मधुर मुहर छोड़ती हुई, जो



## श्री नन्ददुलारे बाजपेयी

प्रायः नहीं मिटती। आर्य-भवन हिन्दू-विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े छात्रावासों से दूर एकांत में है, हरियाली के बीच में एक तरफ अमरुदों का बगीचा, एक तरफ खेत जो उस समय बाजंर से लहरा रहा था। सामने, कुछ ही दूर चलने पर सड़क, आगे महिलाओं का छात्रावास। बाजपेयी जी उस समय एम० ए० फाइनल में थे। और भी कई लड़के आर्य-भवन में रहते थे। दूसरे खुले दिलवाले लड़कों से मालूम हुआ, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल छायावाद की कविता और उनके कवियों का मज़ाक उड़ाते हैं, यह विद्यार्थियों को पसन्द नहीं, इसके जवाब में यह व्याख्यान का ठाट वाँधा गया है, शुक्ल जी को वे खास तौर से इसका प्रतिपादन सुनाना चाहते हैं। लड़कों की मंडली में खूब ताश खेले। कभी-कभी छः-छः घण्टे पार कर दिये। दो-तीन रोज पहले गया था। प्रसाद जी से मिला। उन्होंने व्याख्यान के दिन मुझे अपने यहाँ से ले चलने के लिए बाजपेयी जी से कहा। बात तै हो गयी। मैं प्रसाद जी के यहाँ चला आया। प्रसाद जी ने राय कृष्णदास जी की मोटर मँगा लिया और अपनी मण्डली लेकर यथा-समय चले। उस दिन उन्होंने इत्र से मुझे खूब सुवासित किया। मैंने व्याख्यान के नोट लिख लिये थे जो ऐन वक्त पर काम न दे सके, क्योंकि मैं भाव में ऐसा डूबा था कि कागज पर निगाह डालता था तो कुछ दिखाई न पड़ता था। अच्छी उपस्थिति थी। पूज्य उपाध्याय जी सभापति के आसन पर समासीन थे, बाजपेयी और सोहनलाल जी कारवाई में उनकी मदद कर रहे थे। छात्र-छात्राओं की अच्छी संख्या थी। सिर्फ पं० रामचन्द्र शुक्ल न आये थे। मेरा भाषण लड़कों को पसन्द आया। मैं उसे साधारण रूप से सफल हुई वक्तृता समझता हूँ। मुझे याद है, जब भी बोलते वक्त सभा की सामाजिकता का ख्याल न था, मैंने कहा था, तीसरे दर्जे का विद्यार्थी एम० ए० का कोर्स

## चावुक

क्या समझेगा ? रहस्यवाद और छायावाद की मूल धाराओं को समझने के लिए अध्ययन और मनन की आवश्यकता है—वह काव्य का ज्ञान-कांड है। इस बात से उपाध्याय जी नाराज़ हो गये और भाषण के बीच में आवश्यक कार्य की आड़ लेकर चले गये। उनके जाने पर वाजपेयी जी सभापति के आसन पर बैठे। वाजपेयी जी ने अपने भाषण में छायावाद को विद्रोहात्मक काव्यधारा बताया और नूतनतर उत्थान के रूप में उसकी व्याख्या की जो विद्यार्थियों को पसन्द आयी। सभा भले-भले समाप्त हुई।

एम० ए० का इम्तहान देकर वाजपेयी जी गाँव आये। मैं गाँव में ही था। कभी वे मेरे गाँव आते थे, कभी मैं उनके गाँव जाता था। एक दिन निश्चय हुआ, यहाँ एक पुस्तकालय कायम किया जाय। चूँकि वाजपेयी जी का गाँव बड़ा है इसलिए उसी गाँव के लिए निश्चय हुआ। यह इरादा पहले मैं पक्का कर चुका था, वाजपेयी जी के चाचा पं० रामेश्वर जी वाजपेयी ( श्री आनन्द मोहन वाजपेयी एम० ए० के पिता ) से सभा हुई। स्थानीय सभासदों की सहानुभूति और सम्मति मिली। मैं शुरू से अदूरदर्शी था, आदर्शप्रियता में पड़कर कुछ कितानें, पत्र-पत्रिकाएँ और रुपये दिये, एक सज्जन ने भवन बनने तक अपनी बैठक में पुस्तकालय के लिए जगह दी। काम जारी हो गया। लेकिन स्थानीय लोगों की वैसी सहानुभूति न मिली।

पुस्तकालय द्वारा आस-पास की जनता के लिए व्याख्यानो की योजना हुई जिसमें अनेक उपयुक्त विषयों पर मेरे और वाजपेयी जी के व्याख्यान हुआ करते थे। उनसे अच्छी जागृति आस-पास की जनता में हो गयी थी।

इन्हीं दिनों बात-चीत करने पर मुझे मालूम हुआ वाजपेयी जी साहित्य को ही अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं। एक दिन इसी

आधार पर यह तै हुआ कि आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ चला जाय । द्विवेदी जी का गाँव दौलतपुर वाजपेयी जी के गाँव, मगरायर से १७-१८ मील पड़ता है । बैलगाड़ी पर चढ़कर हम लोग आचार्य द्विवेदी जी के दर्शनों के लिए चले । मुझ पर पहले द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी, बाद को मेरे 'मतवाला' में चले जाने से और असमर्थित साहित्य की सृष्टि करने से, असन्तुष्ट हो गये थे लेकिन फिर भी उनके हृदय में मेरे लिए स्नेह था । हम लोग कुछ चक्कर काटते आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ, दौलत पुर पहुँचे ।

उन्होंने वाजपेयी जी को बुलाया और पूछताछ करने लगे । ऐसे ढंग से प्रश्न करते थे कि सुनकर बड़ा आनन्द आता था । एक-एक करके उन्होंने वाजपेयी जी के घर की कुल बातें मालूम कर लीं और इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सम्पन्न हैं । श्री नन्ददुलारे वाजपेयी में और जो कुछ हो, वातचीत में विपन्नता विलकुल नहीं जाहिर होती, विद्यार्थी जीवन से ही 'न दैन्यं न पलायनम्' के वे प्रतीक हैं । फिर साहित्यिक वातचीत चली । वाजपेयी जी का सवा भाव का दिया जवाब, ध्वनि के साथ द्विवेदी जी को सवा सेर जँचता रहा । मैं बैठा आनन्द लेता रहा । द्विवेदी जी हिन्दी में काम करने के प्रसंग पर जो कुछ कहते थे वह प्राचीन व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम होने पर भी सन् १९३६ ई० के शिक्षित व्यक्ति के लिए अग्राह्य हो तो खुशी की बात ही कहना चाहिए । १९२० ई० में द्विवेदी जी ने मेरे लिए भी कई प्रयत्न किये थे, पर उनकी शिक्षा का निर्वाह मेरी शक्ति से बाहर की बात थी । पहर रात रहते हम लोग गाड़ी पर बैठकर गाँव चल दिये ।

विश्वविद्यालय खुलने पर वाजपेयी जी काशी चले गये और आचार्य श्यामसुन्दर दास जी से मिलकर उनकी आज्ञा से रिसर्च करने लगे । एक वर्ष तक रिसर्च करने के बाद पं० वेंकटेशनारायण

## चावुक

जी तिवारी के 'भारत' के सम्पादन कार्य से अलग होने पर वाजपेयी जी 'अर्द्ध-साप्ताहिक भारत' के सम्पादक हुए ।

वाजपेयी जी नई आलोचना-शैली को जीवन देते हुए उसे इस तरह आगे बढ़ाते हैं कि हिन्दी के ऊपर मौलिक साहित्य के उज्जीवन की तरह आलोचना अपने सच्चे अस्तित्व को आँखों से देखती है, अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होकर साँस लेती है । वाजपेयी जी की समीक्षा मुख्यतः मनां-वैज्ञानिक विवेचन पर आधारित है । इस विवेचन में न केवल रचयिता की मनोवृत्ति की, बल्कि उसकी रचना के साहित्यिक सौष्ठव की भी परीक्षा हां जाती है । वाजपेयी जी की समीक्षा में साहित्य की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रेरक शक्तियों की भी उपेक्षा नहीं है ।

'भारत' में हिन्दी कवियों की बृहन्नयां उन्हीं की निकाली हुई है । इस लेख का उद्धरण दूसरी जगह किया गया और आज भी विद्वान आलोचक इसका समर्थन करते हैं ।

प्रेमचन्द और मैथिलीशरण की भी उन्होंने आलोचना की । हिन्दी में एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ, पूरे एक आन्दोलन की सी सृष्टि हो गयी । पर आलोचक वाजपेयी अचल रहे । प्रेमचन्द जी से वाद-विवाद चला । इसमें भी वाजपेयी जी अपने विचार में दृढ़ रहे । प्रेमचन्द जी बहुत उदार थे । उन्होंने वाजपेयी जी की सत्यता मान ली । जब उनके अन्तिम दिन थे—रोग-शैथ्या पर पड़े हुए थे, मैं वाजपेयी जी के साथ मिलने गया था, उस समय भी उन्होंने वाजपेयी जी की आलोचना की प्रशंसा की थी ।

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक अत्यन्त योग्यता पूर्वक 'भारत' द्वारा हिन्दी की सेवा करने के बाद इस पत्र से आपका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ । यहाँ से चलकर, आप कुछ दिनों तक आचार्य श्याम सुन्दर-

## श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

दास जी के सहायक की हैसियत से 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' के परिवर्धित संस्करण में काम करते हैं। फिर 'सूर-सागर' का कई साल तक 'नागरी प्रचारिणी सभा' में रहकर सम्पादन करते हैं। यह काम पूरा कर 'गीता प्रेस' जाते हैं और वहाँ रामचरित मानस का सम्पादन करते हैं। ये काम ऐसे हैं जिनसे वाजपेयी जी के नवीन और प्राचीन साहित्य के ज्ञान पर पूरा प्रकाश पड़ता है। १९२८ ई० से १९४१ तक उन्होंने अनेकानेक सार-गर्भ लेख लिखे हैं, जिनसे हिन्दी-साहित्य के भण्डार में मूल्यवान रत्न आये हैं। साधारण और साहित्यिक जनों का आदर और विश्वास उन पर बढ़ा है। 'गीतिका' (निराला), 'कामायनी' (प्रसाद) 'काव्य और कला' (प्रसाद) तथा 'अपराजिता' (अंचल) पुस्तकों की भूमिका और इन पर लेख लिखे। उनकी लिखी 'जयशंकर प्रसाद', 'सूर सन्दर्भ' पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हिन्दी-साहित्य—त्रीसवीं शताब्दी' पुस्तक में द्विवेदी जी से प्रारम्भ कर अब तक के प्रमुख साहित्यिकों पर निबंध हैं। इनसे इस काल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। 'साहित्य—एक अनुशीलन' में साहित्य सम्बन्धी विचारात्मक लेख हैं। उनके और भी साहित्यिक उद्बोधन के कार्य हैं। यह सब देखने पर उनकी विशाल ज्ञानराशि और हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन दोनों विभागों में साधिकार प्रवेश का निर्णय हो जाता है। आपने 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' की प्रस्तावना जिस योग्यता से लिखी है उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। वाजपेयी जी अकेले व्यक्ति अपने समय के हैं, जिन पर हिन्दी को सस्नेह गर्वानुभव है। उनके इन्हीं गुणों और कार्यों के कारण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य विभाग का उन्हें सभापति चुनकर सम्मानित किया। उनका निर्मित आदर्श और उनका ऊँचा दिया ज्ञान हिन्दी-भाषियों को

## चावुक

उठाने वाला है। वाजपेयी जी ने भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। इस अध्ययन की छाप उनकी आलोचनाओं में सब जगह है। राजनीतिक विचारों में वे आरम्भ से ही गाँधीवादी रहे हैं, यद्यपि आध्यात्मिक मान्यताओं में वे गाँधी जी के आदर्शवाद की अपेक्षा विशुद्ध भारतीय या हिन्दू आदर्शवाद की ओर अधिक झुके हैं। राजनीतिक विचारों में भी वाजपेयी जी गाँधीजी के अंधभक्त नहीं हैं। साहित्य में आप स्वच्छता और सप्राणता के हामी हैं। प्रणाली और उद्देश्य में दोनों शिष्टता और स्वास्थ्य चाहते हैं। साहित्य का वे समाज के प्रगतिशील उत्थान में सक्रिय योग आवश्यक समझते हैं।



# काव्य-साहित्य





मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार को ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुपता तक पहुँचकर शब्द-ब्रह्म से उसका संयोग प्रत्यक्ष करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति करार दिया। अन्यान्य देश वालों ने भी तरह-तरह के तरीके इस्तिहार कर एक अप्रत्यक्ष दिव्यशक्ति को ही काव्य के कारण के रूप से सिद्ध किया। काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर खास तौर से जोर देता हो, तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा। कारण, अहंकार को घटा कर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह खड़ा कर भूमा में परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है—जैसा ज्ञानियों ने किया। शंकर, कबीर, रवीन्द्रनाथ, गेटे बढ़ने वालों में हैं और तुलसीदास, सूरदास तथा अपर भक्त कवि आदि अहंकार की भूमि से हटने वालों में, दोनों जैसे एक ही शक्ति की अणिमा और द्राधिमा विभूति हों। काव्य के विचार के लिए,

## चावुक

भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि आलोचक के लिए यथेष्ट शस्त्र हैं। विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का।

जिस तरह कवियों पर एक देशीयता के दोष लगाए जाते हैं, उसी तरह प्रायः अधिकांश आलोचक भी अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते हैं, अपनी ही दिशा के ऊँट बन कर चलते हैं। जैसे हिन्दी साहित्य की पृथ्वी पर अब ब्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गयी, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवानसि वेदम' के भक्तों की नजरों में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम 'वेवक्त की शहनाई' के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर ५२ जिले के कवि ढेर हो जाते हैं।

ऐसे आलोचक प्रायः सभी देशों में रहते हैं। हिन्दी तो अभी बालिका है, इसकी इङ्गित नहीं की जाती तो न की जाय, समय उसके सेवकों को और बड़ा पुरस्कार देगा। अंगरेजी, जिसके प्रताप का सूर्य कभी अस्त होता ही नहीं, ऐसे सदाशयों से खाली नहीं। टामस हार्डी अभी उस दिन मरे हैं। तब भी साहित्य की पताका इसी तरह आकाश में फहरा रही थी। पर तिरस्कार के प्रति हार्डी कहते हैं—

“हंसो, मजाक करो, फिर भी मैं किसी महान् आत्मा से प्रार्थना करता जाऊँगा जो कदाचित् मानसिक दुःखों को अभी प्रभा से चकित कर हटा सकती है।”

बंगाल में जब रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा को फिरलें सत्साहित्यिकों के हृदय के कमलों को खोल रही थीं, और सब लोग उनकी

प्रशंसा करने लगे थे, उस समय कितना विरोध हुआ था ! रवीन्द्रनाथ ने एक पद्य में इसकी कैफ़ियत दी थी। उसमें उनके कवि-हृदय का काव्य-स्रोत ही फूट पड़ा है—

अश्रु भलिभे शिशिरेर मत, पोहाई ये दुख-रात ।

‘ये आँसू हैं, मित्र, ( शब्द नहीं ) जो आस-कणों की तरह दुःख की रात पार कर अत्र चमक रहे हैं ।’

जान कि बन्धु, उठियाछे गीत कतो व्यथा भेदकरि ।

( हे मित्र, क्या तुम जानते हो, ये गीत कितनी व्यथा पार कर निकले हैं ? )

एक दिन सुमित्रानन्दन को भी आलोचनाओं से घबराकर भव-भूति की तरह दृष्ट भाषा में लिखना पड़ा था—

न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,

मनन कर मनन, शकुनि नादान ।

गोस्वामी तुलसीदास को इन आलोचकों से कम घबराहट न थी—

भाषा-भनत मोरि मति थोरी । हंसिवे जोग हंसे नाँह स्रोरी ।

जरा सोचिये तो, समालोचकों की किस वृत्ति का इन पंक्तियों से परिचय मिलता है। श्रीहर्ष के मामा ने कहा, मैंने काव्य के दोष-दर्शन के लिए व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, तुम्हारे नैषध में सब दोष एकत्र मिल जाते हैं। और यह वह नैषध है, संस्कृत-साहित्य में जिसकी जोड़ का दूसरा ग्रंथ है ही नहीं, जिसके उदय से किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध-जैसे महाकाव्यों की प्रतिभा मन्द पड़ गयी। आलोचकों की कृपा जिन पर नहीं हुई, ऐसे भाग्यवान् कवि संसार में थोड़े ही होंगे।

## चाबुक

जिन तीन साहित्य महारथियों का मैं जिक्र कर चुका हूँ, प्रेमचन्द्र जी, प्रसादजी और पन्त जी, वे कृति तैयार करने वाले हैं, उनकी आलोचनायें कैसी भी हों, वे आलोचनाओं से पहले हैं, पीछे नहीं। आज भी हिन्दी साहित्य के व्याकरण की निन्दा होती है, महात्मा गाँधी जैसे श्रेष्ठ मनुष्य का कहना है कि यू० पी० वालों की भाषा ठीक नहीं होती—अगर कोई ऐसे हैं, तो महात्मा जी को इसका ज्ञान नहीं, पर इससे हिन्दी-साहित्य की प्रगति रुक नहीं रही, और भाषा के व्याकरण पर दोष देने वालों की दिक्कतें भी वामुहाविरा हिन्दी लिखने वाले यू० पी० के बड़े-बड़े साहित्यिकों को, जिन्हें अपर दो-एक साहित्यों के व्याकरण का भी ज्ञान है, मालूम हो जाती है। इसके कारण के लिखने की यहाँ जगह नहीं। मैं सिर्फ यही कहूँगा कि जिस तरह व्याकरण भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके, यदि उस कृति के फूल खुले हैं और उनमें सुगंध है, समालोचक अपना जितना भी ज़बरदस्त ठाट खड़ा कर दे, वह कभी टिक नहीं सकता। इसलिए समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए।

पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलाने वालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुंतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है।

फूल का मुख्य गुण है, उसकी सुगंध, कृति का मुख्य गुण है उसकी रोचकता, पर जिस तरह चीनियों को घी में बदबू मिलती है और मोडे में डुबोकर जीते हुए तिलचट्टे खाने में स्वाद, उसी तरह

यदि पूर्वोक्त जैसे कृतिकारों की रचनाएँ किसी को रुचिकर प्रतीत न हों और गुणों की गणना से दोषों की संख्या बढ़ रही हो, तो सन्देह उन्हीं की रुचि। योग्यता पर होगा, जो एक हिन्दुस्तानी चीज को अंग्रेजी चीज (Cheese पनीर) बना डालते हैं। (कहते हैं पनीर में कीड़े पड़ जाते हैं—सड़कर बढ़वू आने लगती है, वह खाने में ज्यादा स्वाददार समझी जाती है, कारण, कीड़े कुछ मीठे होते हैं।) दूसरा कारण यह भी है कि 'उग्र' जी की कृति पढ़कर समालोचक अपनी आलोचना की तोप में बर्नार्ड शा, डी० एल० राय और रोमे रोलाँ को भर कर दागते हैं। 'उग्र' जी भी बर्नार्ड शा होते यदि आप का समाज अंग्रेजों की तरह शिक्षा तथा सभ्यता की उतनी ही सीढ़ियाँ तय किये होता। रही बात योग्यता की, सो 'उग्र' जी की योग्यता का पता लगाने से पहिले बर्नार्ड शा की ही योग्यता का पता लगा कर बतलाइये कि वह किस विश्वविद्यालय से होकर निकले हैं, जो यह फिलासफी छाँट रहे हैं और कहाँ के वह साहित्य के डाक्टर हैं, जो नोबुल पुरस्कार प्राप्त कर लिया। जैसे उनके लिए अंग्रेजी सुगम है, वैसे ही 'उग्र' के लिए हिन्दी, उनके अंग्रेजी के चित्र, अंग्रेज-समाज के परिचायक हैं, 'उग्र' जी के हिन्दी के चित्र हिन्दी-समाज के परिचायक। आपको अच्छा न लगे तो, चीन या विलायत चले जाइए। यहाँ क्यों व्यर्थ की बढ़वू में सड़ रहे हैं।

‘तुम्हारी कृति सौंदर्य—किरीटिनी हो, तुम्हारा जीवन सप्रेम, तुम्हारा मन सत्य के साथ ऊपर ईश्वर तक चढ़ा हुआ हो, जिसके लिए सब कुछ है, जिससे सब शुरू हुआ, जिसमें सब सौंदर्य, सत्य और प्रेम एक है।’

सत्य या ईश्वर ही वह रंग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है।

## चाबुक

अनेक प्राणों में एक ही प्रकार की सक्षानुभूति, एक ही मधुर राग बज उठता है। 'विज्ञेज' के ये भाव भारत के हृदय में चिरंतन सत्य की प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इन पंक्तियों में सत्य का जो सूत्र है, उससे भारत और इंग्लैंड बंधा हुआ है। दोनों आत्माएँ एक हैं, जातिगत कोई भी वैषम्य यहाँ नहीं। प्रिया के चित्र को कितनी खूबसूरती से कविवर विलियम शेक्सपियर खींचते हैं। देखिए :

'मेरी आँखों ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौंदर्य की तस्वीर मेरे हृदय की मेज पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अन्दर वह रखी है। शीशे के अन्दर देख पड़ती हुई सी वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार की कला है, क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्ति खिंची हुई रखी है। वह तस्वीर मेरे हृदय की दुकान में निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के भरोखे तुम्हारी हेरती हुई आँखें हैं। अब देखो कि आँखों ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आँखों ने तुम्हारी तस्वीर खींच ली, और तुम्हारी आँखें मेरे लिए मेरे हृदय की खिड़कियाँ हैं।' कितना कमाल है—

लोचन-मगु रामाहि उर आनी  
दीन्हें पलक-कपाट सयानी।

में स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बड़ा सौंदर्य अवश्य नहीं। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो-एक कारण—जैसे मेज का उल्लेख, हटा दिये जाँय, तो क्या किसी भारतीय के लिए अपनी चीज़ कहने में कोई असुविधा हो सकती है? इस प्रकार की एक उक्ति और याद आयी—

नैन भरोखे वैठि के, सब को मुजरा लेय  
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय ।

भावों की उच्चता पर कुछ भी नहीं कहना, पर कला की जो खूबसूरती शेक्सपियर में हैं, वह इसमें भी नहीं। इस तरह के भाव— 'तेरे नैनन-भरोखे वांच भौंकता सो कौन हैं'; अनेक लड़ियों में गुथे हुए मिलते हैं। हिन्दी में कहीं मैंने शेक्सपियर की-सी उक्ति पढ़ी है, मुझे स्मरण नहीं। प्रिया और प्रियतम के स्नेह का आदान-प्रदान इस तरह की उक्तियों से बढ़ा दिया जाता है, इसलिए सांसारिक दृष्टि से इस कला को बहुत बड़ा महत्व प्राप्त है।

'हे धीर कुमारी, मुझे तुम्हारे चुम्बनों से भय है, पर तुम्हें मेरे चुम्बनों से नहीं घबराना चाहिए क्योंकि मेरी शक्ति इतनी दबी हुई है कि वह तुम्हारी शक्ति का भार नहीं संभाल सकती।'

'मैं तुम्हारी छवि, वाणी और गति से डरता हूँ, पर तुम्हें मेरी चेष्टाओं से नहीं डरना चाहिए, क्यों? हृदय के जिस अर्घ्य से मैं तुम्हें पूजता हूँ, वह निदोष है।'

शेली की इन पंक्तियों में, कविता-कुमारी को साधना कर वह कितना कोमल बन गया था इसका प्रमाण मिल जाता है। प्रायः कवियों को हम कुमारियों की पूजा भी करते हुए, अनेक प्रकार की स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करते हुए देखते हैं। पर शेली अपनी सुन्दरी कुमारी की छवि, शब्द तथा गति से भी डरता है, जैसे कुमारी की गति से उसी के सुकुमार प्राण काँप उठते हों—इतनी कोमलता।

कल्पनामय, शब्दों में प्राञ्जल रञ्जिन्द्रनाथ—

अलख निरंजन—महारव उठे बंधन टुटे, करे भय भंजन ।

वक्षेर पाशे घन उल्लासे अस्ति वाजे भंभन ।

## चाबुक

पंजाब आजि उठि ले गरजि—‘अलख निरंजन’ ?

ऐस ह्येसे एक दिन, लक्ष पराणे शंका ना जाने, ना राखे

काहारो ऋण ।

जीवन मृत्यु पायेर भृत्य, चित्त भावना हीन ।

पंच नदीर घरि दशतीर ऐसे छे से एक दिन ।

दिल्ली-प्रासाद कुटे होथा बार-बार बादशाजादार तंद्रा जेते छे छूटे ।

कादेर कंठे गगन मंथे निविड निशीथ टूटे ।

का देर मशाले आकाशेर भाले, आगुन जैसे छे फूटे ।

“अलख निरंजन” महान् रव उठता, बंधन टूट जाते, भय दूर हो जाता है । कटि में सोल्लास, आसि भून-भून बज रही है । आज पंजाब अलख निरंजन गरज उठा ।

“वह भी एक दिन था जब लाखों प्राण शंका नहीं जानते थे । किसी का ऋण नहीं रखते थे । जीवन और मृत्यु पैरों के भृत्य से थे, चित्त चिन्ता से रहित । पाँचों नदियों के दसों तट घेर कर वह भी एक दिन आया था । दिल्ली के प्रासाद कोट बार-बार शाहजादे की आँख खुल रही है । आधीरात के स्तब्ध आकाश को मथता हुआ यह किसका कंठ है—आकाश के भाल पर फूटती हुई यह किनके मशालों की आग है ।”

कल्पना, चित्रण तथा ओज एक ही पद्य में मिल जाता है । पढ़कर हृदय की काव्य-तृष्णा मिट जाती है । हिन्दी में यदि चारों ओर से परकोटा घेरकर अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावशक्ति रोक रखी गयी तो इस व्यापक साहित्य के युग में हिन्दी के भाग्य किसी तरह भी नहीं चमक सकते और उसके साहित्य में महाकवि तथा बड़े-बड़े साहित्यिकों के आने की जगह चिरकाल तक ‘बनी रहे—बनी



रहे' होता रहेगा। पुराना साहित्य हिन्दी का अच्छा था पर नया और अच्छा होगा, इस दृष्टि से उसकी साधना की जायगी। पुराने साहित्य का जितना दायरा था, नये का उससे बहुत अधिक बढ़ गया है; जो लोग ब्रजभाषा के प्रेमी हैं, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिन्दी की नवीन संस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिन्दी की नवीन कृतियों को नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्रायः ब्रजभाषा की श्रेष्ठता जाहिर करने के लिए, तब उनकी इस रुचि की वजह से उन्हें प्रयत्न करके साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए। उनके द्वारा साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। वे तो सिर्फ मनोरंजन के लिए काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तर-दायित्व को लेकर नहीं, उनकी आँखों में दूर तक फैली निगाह नहीं है। वे अपने ही घर को संसार की हद समझते हैं। साहित्यिक प्रतिस्पर्धा क्या है, अगर साहित्यों से भावों के आदान-प्रदान के लिए कैसी शिष्टता, कितनी उदारता हानी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृतिगत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन से भाव सार्वजनीन हैं और कौन से एकदेशीय, उन्हें पता नहीं, चरकाल से एक ही समाज के चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गयी, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रखी जाती है तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दाहाई देकर उसे देश-निकाला देने पर तुल जाते हैं। पर यदि उनसे पूछा जाता है कि वे किसी भी एक काव्यदे का वयान करें, जो उनकी चिरंतन भारतीय संस्कृति हो और जिस ढंग की संस्कृति दूसरे देशों में न हो, तो महाशयगण उत्तर देने की जगह दुश्मन की तरह देखने लगते हैं। कोट के सामने आधुनिक मिर्जई की प्राचीनता-भक्ति की तरह उसके पहनने वाले यदि विचारपूर्वक

## चाबुक

देखेंगे, तो मिर्जई भी उनकी सनातन पोशाक ठहरेगी। एक बार बनारस में अपनी गुर्जरी पवित्रता की व्याख्या करते हुए मेरे एक मित्र ने कहा, हम लोग पीताम्बर पहनकर खाते हैं। इस बीसवीं सदी में उनका पीताम्बर-धर दिव्य रूप आँखों के सामने आया तो बड़ी मुश्किल से हँसी रोकना पड़ा, जैसे आजकल के वकीलों का भव्वा देखकर अकस्मात् जटायु की याद आ जाती है। मैंने मन ही मन कहा, पहले के आदमी पीताम्बर पहन कर भोजन करते थे या दिगम्बर होकर, यह सब बतलाना बहुत कठिन है। पर अगर जरा अक्ल का सहारा लिया जाय तो दिगम्बर रहना ही विशेष रूप से सनातन धर्म जान पड़ता है। कारण सनातन पुरुष के बहुत बाद ही कपड़े का आविष्कार हुआ होगा और इस प्रथा को माननेवाले सिद्ध नागे महाराजों की इस समय भी कमी नहीं। अस्तु, अभिप्राय यह है कि भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता तथा सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को कायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातन धर्म व्याप्ति है भी।

देखने के लिए जो दो-चार उद्धरण दिये गये हैं, उनमें उच्चतम वेदान्त वाक्य से लेकर शृंगार के अत्यन्त आधुनिक चित्र तक हैं, पर वे अभारतीय होकर भी भारतीय हैं। कारण उनमें प्रकाश तथा जीवन है। जो भाव या चित्र किसी देश की विशेषता सूचित करते हैं, वे उतने अंश में एकदेशीय हैं। पर जहाँ मनुष्य-मन के आदान-प्रदान हैं, वहाँ वह व्यापक साहित्य ही है। सिर्फ उसके उपकरण अलग-अलग होते हैं। शेक्सपियर की नायिकाओं के परिच्छेद एकदेशीय हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा, प्यार, भाव व्यापक हैं। पश्चिम के लिए जिस तरह यहाँ के भावों की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा

आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग वहाँ वालों के लिए ज़रूरी है। इस समय वहाँ वालों का खूनी प्रेम भी शक्ति संचार के लिए यहाँ आवश्यक हो गया है। यह है आसुरी, राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं में राक्षस ही प्रयत्न होकर बल पहुँचाते हैं, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते। हिन्दी के भारतीय लोगों ने 'तुलसी' की कथा पढ़ी होगी। यहाँ के साहित्य में मद्यपान बहुत कम है, पर वेदों में मादक सोमरस की जैसी महिमा है, प्रायः सभी लोग जानते हैं, और मद्य के प्रचार का कहना क्या ? जिस गुजरात में अब ताड़ी के पेड़ कट रहे हैं, वहीं पर द्वापर में अवतार-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण जी के वंशज यादवों ने शराब पीकर एक ही दिन में अपना संहार कर लिया था। शायद शराब का ऐसा रोचक इतिहास मध्य योरप भी नहीं दे सकता। शराब अच्छी भी है और बुरी भी अवश्य। यहाँ मैं देश-प्रेम की बात नहीं कर रहा हूँ। साहित्य की शराब मुझे तो अत्यन्त रुचिकर जान पड़ती है और बिना विचार के इसे भारतीय कर लेने की इच्छा होती है। किसी मुसलमान विद्वान ने कहा था, योरप शराब से डूबा हुआ है, पर कहीं के धर्म से भी शराब की तारीफ न करने वाले एशिया ने शराब की कविताओं से योरप को मात कर दिया। शराब से सख्त नफ़रत करने वाले कितने ही पंडितों को मैं जानता हूँ, जिन्हें दवा के रूप से ब्रांडी दी गयी और वे बिना शिखा हिलाए पी गये। सुना है यदि दवा के तौर पर प्रतिदिन थोड़ी-सी शराब पी जाय, तो स्वास्थ्य को निहायत फ़ायदा पहुँचाती है। यों तो मैं जानता हूँ, हर खाद्य पहले पेट में पहुँचकर शराब बनता है और नशा पहुँचाता है, उसी के रासायनिक अनेक रूप में शरीर की जीवनी शक्ति बनते हैं। नशे की

## चावुक

नींद के बाद ही जागरण का आनन्द मिलता है और जागरण की ज़रूरत के साथ नींद की भी आवश्यकता सिद्ध होती है। इसी तरह उन दिव्य भारतीयों को कुछ प्रसन्न करने के लिए असुर शरावी भाव भी आवश्यक है। पर देश के साहित्यिक सुधारपंथी नेतागण अवश्य इसके खिलाफ़ विद्रोह खड़ाकर मेरी स्त्री की तरह दिव्यता का परिचय देंगे।

यहाँ ज़रा अपनी धर्मपत्नी की दिव्यता का परिचय दे लूँ। खेद है कि अपनी दिव्यता के कारण ही वह इस समय दिव्यधामवासिनी हो रही। पंडितों ने मेरा और उनका संबंध पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं इसलिए विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति वैसे ही मिली, जैसे पंडितों की पोथियों के पत्र एक-दूसरे से मिले रहते हैं। वह अखंड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज मांस खाता था। उन्होंने मुझे विश्राम सागर, पद्म-पुराण, शिव पुराण और न जाने कौन-कौन से ग्रंथ, गुटके और पाद टिप्पणियाँ दिखलाकर कहा, इससे बड़ा पाप होता है, तुम मांस खाना छोड़ दो। तब मैं कुछ मूर्ख था और वह मुझसे हिन्दी में ज्यादा पंडित थीं। मांस से कितनी भयंकर सजा मिलती है, उसके जो भिन्न उन्होंने दिखलाये, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते। कुछ दिनों तक मैंने मांस खाना छोड़ दिया। तब मेरा स्वास्थ्य भी मुझे छोड़ने लगा। स्वास्थ्य की चिन्ता तो होती थी पर यमदण्ड के भय के सामने स्वास्थ्य का विचार न चलता था। मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का भय न था, जितनी प्रसन्नता मेरे मांस छोड़कर भारतीय बन जाने की थी। धीरे-धीरे सूख कर काँटा हो गया। एक दिन नहाने के लिए जा रहा था, कुएँ पर मेरे एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले। मुझे देखकर बड़े तश्चुब में आये। पूछा, 'तुम क्या हो गये?' मैंने कहा,

‘मांस छोड़ दिया, इसलिए दुबला हो गया हूँ ।’ उन्होंने कहा, ‘तो मांस क्यों छोड़ा ?’ मैंने कहा, ‘विश्राम सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसाहारी को यमदूत बड़ा दंड देते हैं ।’ उन्होंने पूछा, ‘तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर ?’ मैंने सचसच बतला दिया । उन्होंने कहा, ‘तो तुम फिर खाओ, कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको वरदान है ।’ मैंने पूछा, ‘कहीं लिखा भी है ।’ उन्होंने कहा, ‘हाँ है क्यों नहीं ? वंशावली में लिखा है ।’

मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई । पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया । उनसे तो मैंने कुछ भी न कहा, शाम को बाजार से आधा सेर मांस तौला लाया । मकान में लाकर रखा तो श्रीमती जी दंग । उस समय मेरे घर के और लोग विदेश में थे । श्रीमती जी रूमाल में खून के धब्बे देखकर समझ गयीं, पूछा, यह क्या है ? मैंने कहा, ‘मांस ।’ ‘तो क्या फिर खाओगे ?’ मैंने कहा, ‘हाँ, हमें वरदान है ।’ श्रीमती जी हँसने लगीं, पूछा—‘कहाँ मिला यह वरदान ?’ ‘हमारे पूर्वजों को मिला है, वंशावली में देख लो, तुम्हें विश्वास न हो तो ।’ श्रीमती जी ने कहा, ‘खुद पकाते हो ही, अपने मांस वाले बरतन अलग कर लो, और जिस रोज मांस खाओ, उस रोज न मुझे लुओ और न घर के और बरतन, और तीन रोज तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे ।’ मैंने कहा, इस समय तो रोज खाने का विचार हैं, क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है ।’ उन्होंने कहा, ‘तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ ।’ मैंने कहा, ‘लिख दो कोई ले जाय, नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे, मैं जहाँ मांस पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूँगा ।’ श्रीमती जी चली गयीं । पत्रा-प्रेम इसी तरह तीन-चार साल कटा । चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके । अन्तिम बार मायके में इंप्लुएञ्जा के साल, उन्हें भी इंप्लुएञ्जा हुआ ।

## चाबुक

तब मैं बंगाल में था। मेरे पास तार गया। जब मैं आया तब महाप्रयाण हो चुका था। कस्बे के डाक्टर मेरे परिचित मित्र थे। उनसे मिला तो अफसोस करने लगे। कहा, 'फेफड़े कफ से जकड़ गये थे, प्यास ज्यादा थी, मैंने पानी की जगह अखनी पिलाने के लिए कहा, वैसे ही डाक्टरी दवा भी देने के लिए पूछा, उन्होंने इन्कार कर दिया, कहा, दस बार नहीं मरना है।' इस दिव्यभावना ने अगर कुछ भी मेरे साथ सहयोग किया होता, तो शायद यह अकाल मृत्यु न हुई होती और जीवन भी कुछ सुखमय रहता।

इस तरह साहित्य को जीवित रखने के लिए उसमें अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है और जब कि अपने-अपने स्थान पर सभी भाव आनन्दप्रद हैं और जीवन पैदा करने वाले हैं। व्यापक साहित्य किसी खास सम्प्रदाय का साहित्य नहीं। शराब, कबाब, नायिका, निर्जन साज और संगीत के कवि उमरखैयाम की इज्जत साहित्य-संसार के लोग जानते हैं। गालिव मशहूर शराबी थे पर उनकी कृति कितनी सुन्दर है। व्यापक भावों में कवि रवीन्द्रनाथ ने भी इससे फायदा उठाया—

कालि मधु यामिनी ने ज्योत्स्ना निशीथे कुंज कानने सुखे  
फेनिलोच्छल यौवन-सुरा धरेछि तोमार मुखे ।  
तुमी चेये मोर आँखी परे धीरे पात्र लयेछ करे  
हेसे करियाछ पान सुम्बन भरा सरस विम्बाधरे  
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना निशीथे मधुर आवेश-भरे ॥

( कल वसन्त ज्योत्स्ना की अर्ध-रात्रि को सुख से बगीचे के कुंज में छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा मैंने तुम्हारे मुख पर रखा था। तुमने मेरी आँखों की ओर देखकर धीरे से पात्र (प्याला) हाथ में

ले लिया, और हँस कर चुम्बनों से खिले हुए सरस त्रिम्बाधरों से मधुर आवेश में आ, पी गयी । )

यहाँ रवीन्द्रनाथ से एक बड़ी गलती हो गयी है । पहले उन्होंने 'यौवन-सुरा' लिखकर सुरा के यथार्थ भाव में परिवर्तन करना चाहा था । वहाँ उन्होंने तरंगित यौवन को ही सुरा बनाया है । पर अंत तक नहीं पहुँच सके क्योंकि अंत में उनकी प्रिया की जो क्रिया है वह सुरा पीने की ही है, यौवन-सुरा पीने की नहीं, विदेशी भावों को लेते समय ज़रा होश दुरुस्त रखना चाहिए । मुसलमानी सभ्यता के कवि इस कला में एकछत्र सम्राट हैं । एक जगह और रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

दुःख सुखेर लक्ष धराय पात्र भरिया दियाछि तोमाय,  
निठुर पीडने निगाडि वक्ष दलित द्राक्षा सम ।

( दुःख और सुख की लाखों धाराओं से मैंने तुम्हारा प्याला भर दिया है—अपने वक्ष को निष्ठुर पीड़नों से दलित द्राक्षा की तरह निचोड़-निचोड़ कर । )

'दलित-द्राक्षा' का भाव उमर खैय्याम का है । सुरा की कविताओं में मुसलमानों ने कमाल कर दिया कि मयखाने को मसजिद से बढ़ कर बतला दिया और पाठकों को पढ़कर आनन्द आता है ।

दूर से आये थे साक़ी सुनके मयखाने को हम ।  
बस तरसते ही चले अफ़सोस पैमाने को हम ।

यहाँ मयखाना मंदिर और पैमाना अमृत का कटोरा है ।

मय भी है, मीना भी है, सागर भी है, साक़ी नहीं ।  
दिल में आता है लगा दें आग मयखाने को हम ।

## चाबुक

यहाँ साक्री अमृत पिलाने वाला गुरु है। इस तरह शराव के लक्ष्य से बड़ी-बड़ी बातें कह दी गयी हैं। उर्दू-साहित्य की काफी निन्दा परवर्ती काल के सुधारकों ने की है। पर यह प्रायः सब लोग मानते हैं कि पहले की शायरी का आनन्द दुष्प्राप्य है।

क्रिस्मत को देखिए कि कहाँ टूटी जा क्रमंद।

दो चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया।

असफलता की कितने सुन्दर सरस ढंग से वर्णना की, सफलता तक पहुँचा कर असफल कर दिया।

हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए। तभी उसका कल्याण हो सकता है। पश्चिमी कवियों के हृदय में पूर्व के लिए अपार सहानुभूति उमड़ चली थी। उनका यही साहित्य पौरुष तथा प्रेम आज संसार भर में फैला हुआ है। वर्डस्वर्थ और उनके मित्र कालरिज ने पूर्व का वर्णन किया है। इधर डेढ़ सौ वर्ष में पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक चमत्कार कहाँ तक पहुँचा है, इसका हिन्दी-भाषियों को भी यथेष्ट ज्ञान है।

इंग्लैंड के कवियों में पूर्व के साथ शेली का प्रगाढ़ प्रेम देख पड़ता है। पूर्व के रहस्यवादियों तथा सन्तों को वह चाव से याद करता है। ब्रह्म, शिव और बुद्ध भी उसकी रचना में हैं। कीट्स भी पूर्व की छवि से मुग्ध है। भारत का उल्लेख उसने भी किया है। भारत के अमर स्नेह में डूबा हुआ है। पूर्व-देशों का इनमें सबसे ज्यादा ज्ञान वायरन को था। उसने तुर्किस्तान की सैर भी की थी और इस तरह काव्य में अपना प्रत्यक्ष अनुभव लिखा है जिससे उसकी वे रचनाएँ और भी महत्वपूर्ण हो गयी हैं। अनेक रचनाएँ उसके भ्रमण के कारण साहित्य को मिलीं। नैपोलियन की उसने तैमूर से तुलना



की। टेनीसन ने भी पूर्व पर काव्य लिखे। टेनीसन फारस के सौंदर्य पर सुग्ध था। परन्तु फिर भी पूर्व पर टेनीसन की बहुत श्रद्धा न थी।

यह सत्र पूर्व के लिए इंग्लैंड का पद्य-प्रवाह है। पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। नस-नस में शरारत भरी, हजार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक में दम हो गया और अभी संस्कृति लिये फिरते हैं।

सबसे बड़ी आफ़त ढा रहे हैं कुछ साहित्यिक सुधार-पंथी, जो स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकते, दूसरों की कृति पर हमला करके महा लेखक बन जाना चाहते हैं। सुधार और प्रोपागंडा से साहित्य मंजिलों दूर है। 'प्रसाद' जी की जैसी समालोचना निकली है, जैसा दोष भाषा-क्लिष्टता का बनारसीदास जी ने उन पर लगाया है, वह यदि वास्तव में मनुष्योचित शौर्य तथा पर्यवेक्षण के साथ आलोचनाएँ करते हैं तो मैं उनसे कहूँगा, आप डी० एल० राय के ऐतिहासिक नाटकों को पढ़िए, फिर देखिए नव साल की बच्ची और दो रुपट्टी का नौकर, गज-गज भर के समस्त पद बोलते हैं या नहीं और यह देखकर यदि अभी तक आप आँख मूँद कर ही राय महोदय के पीछे-पीछे चलते आए हों, एक वैसा ही नोट जैसा 'प्रसाद' जी की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है, उसी लहजे में लिख कर 'माडर्न रिव्यू' में छपवा दें, तो मैं आपकी इस आलोचना को आपकी मर्यादा के योग्य समझूँगा। अवश्य यहाँ प्रत्यालोचन की जगह नहीं। समय मिला तो अन्यत्र लिखूँगा। आलोचकों ने वरदान से 'प्रसाद' जी को शाप ही अधिक दिया है, जो एक बहुत बड़े साहित्यिक अन्याय में दाखिल है। आलोचकों ने अपने को जितना बड़ा समझदार समझ लिया है, यदि कुछ हद तक प्रसाद जी को भी उसी कोटि में रखते तो इतनी बड़ी त्रुटि न होती।

## चाबुक

साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिए मैंने तमाम भावों को एक साथ पूजा करने का समर्थन किया। हिन्दी के साहित्यिकों का अन्याय सीमा को पार कर जाता है। उन्हें अपनी सूझ के सामने दूसरे सूझते ही नहीं। हमें उनकी आँख में उँगली कर करके समझाना है और बहुत शीघ्र जैसे संकीर्ण विचारवालों को साहित्य के उत्तरदायी पद से हटाकर अलग कर देना है। तभी साहित्य का नवीन पौधा प्रकाश की ओर बढ़ सकेगा। हमें अपने साहित्य का उद्देश्य सार्वभौमिक करना है, संकीर्ण एकदेशीय नहीं। राष्ट्रभाषा को राष्ट्रभाषा के रूप से सजाना और अलंकृत करना है।

---

कला और देवियाँ



समुद्र-मंथन की बात प्रायः सभी को मालूम है। वह केवल एक रूपक है। उसका रहस्य कुछ और है। वहाँ समुद्र से मतलब अनादि ब्रह्म से है। यथार्थ समुद्र न तो मथा जा सकता है और न मथने से फेन के सिवा उससे रत्नों के निकलने की आशा है। मथने के सामान जो हैं—मेरु, कलुआ, शेष, ये भी मथने के काम नहीं आ सकते और मथने वाले दैत्य और देवता जैसे इस समय दुर्लभ हैं वैसे ही उस समय भी दुर्लभ रहे होंगे। अगर ये आदमी के शकल के थे तो जैसे आदमी के शकल वालों के लिए इस समय समुद्र मथना असम्भव है, वैसे ही उस समय भी रहा होगा। सच पूछिये तो बात यह भाव की है, भाव में समझने के लिए; वहीं इसको सत्य प्राप्त होता है। ब्रह्म-समुद्र को मथने वाले देवता और दैत्य भली-बुरी प्रकृति के रूपक हैं। जो चौदह रत्न निकलते हैं, हम देखते हैं, लक्ष्मी उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इस प्रकार नारी की श्रेष्ठता सनातन प्रमाणित होती है। लक्ष्मी में दिव्य भाव तथा ऐश्वर्य के सभी गुण हैं। इसीलिए वे लक्ष्मी हैं।

## चाबुक

हम अपनी प्रत्येक गृहदेवी को गृहलक्ष्मी कहकर इन्हीं चिन्हों से संयुक्त करते हैं। यह बाहरी समादर मर्यादा-दान नहीं, किन्तु प्रकृति के औचित्य की रक्षा है। हमने नारी को इसी महिमा में प्रत्यक्ष किया है।

उक्त चौदह रत्नों में एक रत्न और है—उर्वशी। वह कला, गति और गीति की प्रतिमा है। इस उत्कर्ष में भी हम नारी को प्रत्यक्ष करते हैं।

लक्ष्मी और उर्वशी के गुण प्रत्येक स्त्री में मिले हुए हैं उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्म-समुद्र में वे एक साथ मिले हुए थे। उर्वशी के नाम से किसी-किसी को हिचक हो सकती है। पर यह न समझने के कारण होगी। जिस प्रकार प्रत्येक रागिनी का चित्र खींचा गया है उसी प्रकार उर्वशी गीति और गति की प्रतिमा है। प्रत्येक स्त्री में एक प्रिया-भाव है जिससे वह पति का मनोरंजन करती है। इस भाव का भोक्ता संसार में केवल उसका पति है। यह उर्वशी का भाव है। प्रिया-भाव में गीति और गति के साथ रचना भी आती है, वह ललित वाक्य-रचना हो या छन्द-रचना। यह शब्दों के साथ भी मिली हुई है और ताल के साथ भी। शब्दों के साथ वह काव्य है और ताल के साथ नृत्य। उर्वशी के इसी भाव का आरोप देवी सरस्वती पर किया गया है, इसलिए कि भाव में शुद्धता रहे। पर जैसा पहले कहा गया है, प्रिया-भाव की प्रधानता के लिए यहाँ उर्वशी ही आती है। इस प्रकार के सौंदर्य-बोध में इस अप्सरा-भाव का प्राधान्य है। लक्ष्मी से नारी-भाव की महिमा व्यञ्जित होती है। जिस सुलक्षणता से वह गृह की कर्त्री है, ऐश्वर्य को स्थितिशील करती है, दूसरों को भोजन-पान और स्नेह देकर तृप्त करती है वह गृह के समस्त वातावरण को शान्ति से ढके हुए, चारुता देती हुई वह पति तथा दूसरों की दृष्टि में महिमा

की मूर्ति बनकर आती है, वह उसका लक्ष्मी भाव है। रक्षा, सेवा आदि इसके अन्तर्गत हैं। इसी का विकास मातृत्व में होता है। विश्व का पालन करने वाले विष्णु की शक्ति लक्ष्मी इसी मातृत्व में पूर्णत्व प्राप्त करती है।

पहले भारत ने जिस तरह उन्नति की थी, अब वह तरह बदल गयी है। पहले की बातों में मनुष्यता की एक अनुभूति मिलती है। वहाँ शांति है और आनन्दपूर्वक निर्वाह। स्त्री और पुरुष दोनों अपनी-अपनी विशेषता से गढ़ते हुए, समाज में मर्यादित रहकर, अनेक प्रकार के उत्कर्ष के चिन्ह अपनी सन्तानों के समक्ष छोड़ते हुए, आनन्द के भीतर से मुक्ति को प्राप्त करते हैं। यह के भीतर स्त्री है, बाहर पुरुष, दोनों अपने स्वत्व और धर्म की रक्षा में तत्पर। अब वह बात नहीं रही, जहाँ तक पश्चिम के विकास की रूपरेखा है। एक बड़े विद्वान का कहना है कि अब यह का स्थान होटल और क्लबों ने ले लिया है और स्त्री-पुरुष के सप्रेम समझौते की जगह प्रतिद्वन्द्विता ने। स्त्री और पुरुष की प्रकृति के अनुसार दोनों के कामों में अधिकार-भेद वाली बात नहीं रह गयी। फल यह हुआ कि जो देश आधुनिक भावों से समुन्नत कहलाते हैं वे स्त्री-पुरुष-युद्ध में न घर में शान्ति पाते हैं न बाहर। प्रणय प्रतिपल कलह है, कला बाजार की वस्तु बनी हुई है, जहाँ चमक-दमक अधिक, टिकाऊपन कम, नृत्य और गीत रंगशालाओं के लिए हैं, जहाँ इतर-आवेश अधिक और दिव्यता थोड़ी। इस विशृंखला का सारा कारण है पश्चिम का भौतिक उत्कर्ष। यह स्वाभाविक बात है कि केवल संसार की ओर ध्यान देने पर उस पर ईश्वरी प्रहार होगा, जिससे उसकी नश्वरता प्रतिक्षण सिद्ध होती रहेगी। भारत ने संसार की ओर ध्यान दिया था ईश्वर से संयुक्त होकर। इससे उसकी सांसारिक चारुता में भी नैसर्गिक छाप है।

## चाबुक

यदि हमें प्रत्येक बात में यूरोप का अनुकरण करना पड़े तो इससे बढ़कर हमारी दुर्बलता, हमारी अमौलिकता का दूसरा प्रमाण न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ हमारे सीखने योग्य बहुत सी बातें हैं और हमें भारतीय होने के कारण, वहाँ के गुण श्रद्धा पूर्वक ग्रहण करने में संकोच न होना चाहिए पर यदि हम उन गुणों को, उन वस्तु-विषयों को, अपने अनुरूप न बना सके, उन्हें अपने साँचें में न ढाल सके तो यह हमारे लिए अपनी विशेषता से अलग होना होगा। इससे बढ़कर हमारी दूसरी हार न होगी। युद्ध की हार उतनी बड़ी नहीं जितनी बड़ी बुद्धि और संस्कृति की हार है।

रात का समय सब भूमियों पर आता है। भारत की भूमि पर शताब्दियों से रात है। इस समय स्त्री-समाज पर जो पाशविक अत्याचार यहाँ हुए हैं उन्हें पढ़कर रोमांच होता है, साथ-साथ यह दृढ़ता भी आती है कि इतने दिनों तक दलित होता हुआ भी भारत अपने विशेषत्व से रहित निष्पाप नहीं हुआ—उसमें कोई अद्भुत जीवनी-शक्ति अवश्य थी हमें इसी जीवनी-शक्ति का उद्बोधन करना है। इस शक्ति ने भारत की स्त्रियों को किस साँचें में ढाला है, इसके सहस्रों प्रमाण हैं और यह रूप अन्य देशों में बहुत कम प्राप्त होगा।

जिस क्षिप्रता और स्फूर्ति के लिए विदेशी महिलाएँ प्रसिद्ध हैं सांसारिक कार्यों तथा क्रय-विक्रय में प्रवीण, यह यहाँ की महिलाओं की पहली विशेषता थी। समय के अनेकानेक प्रहारों ने उन्हें निश्चेष्ट कर दिया है, स्त्री और पुरुष दोनों देह और मन की सहज गति से रहित हो गये हैं, पर वास्तव में वे ऐसे न थे। आध्यात्मिकता के मानी ही है लघु से लघुतर होना—जड़त्व से वर्जित होना कला और कौशल के लिए यह पहली बात है कि गति अत्यन्त लघु, ललित और उचित शक्ति से भरी हो।



## कला और देवियाँ

कला अपने नाम से नारी-स्वभाव की सूचना देती है, उसकी कोमलता और विकास में महिलाओं की प्रकृति है। पुनः उसकी अधिकांश उपयोगिता गृह के भीतर है। इसलिए वह महिलाओं की ही है, इसमें सन्देह नहीं। गृह के बाहर विशाल संसार में चलने-फिरने की शक्ति गृह के भीतर है। यदि भीतर से मनुष्य अशक्त रहा तो बाहर सफल नहीं हो सकता। भीतर के सम्पूर्ण अधिकार स्त्रियों के हैं। घर का भीतरी हिस्सा देखने में छोटा होने पर भी महत्व में बाहरी हिस्से से कम नहीं, बल्कि गृह-धर्म के विचार से बढ़कर है। इसकी चारुता, आवश्यक छोटी-मोटी वस्तुओं का निर्माण जिनकी कमी हम बाज़ार से पूरी कर दूसरे देशों को धनवान करते हैं; रँगाई, सिलाई-बुनाई आदि सुई के भिन्न-भिन्न कार्य, गीत-वाद्य-नृत्य, शब्द-रचना, अलंकार-निर्माण, चित्रकारी, पाकशास्त्र इतना ही नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न अंगों का गृह-विज्ञान, चिकित्सा आदि स्त्रियों में विकसित रूप प्राप्त करें, इनके द्वारा वे संसार के ज्ञान से समृद्ध हो गृह के साथ देश और विश्व से संयुक्त हों, इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। कला के विकास के साथ देवियों की आत्मा का विकास हो। और भारत के प्राचीन दिव्य शक्ति का प्रबोधन, भारतीयों के लिए उन्नयन का इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। देवियों की कला में उनकी दिव्य विभूति की पड़ी हुई छाप विश्व को अपनी श्रेष्ठता का परिचय दे।





वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति



‘ननिवसेत म्लेच्छराज्ये’—इस अनुशासन वाक्य से साफ़ जाहिर हो रहा है कि दुराचारों से पतित म्लेच्छों का विस्तार उनके अनुशासन काल में भी काफी हो चुका था, चाहे वह भारतवर्ष की आधुनिक सीमा के बाहर ही हुआ हो। सृष्टि के दार्शनिक सिद्धान्त के मानने वाले निस्संदेह कहेंगे—देव और असुर भावों की सृष्टि एक साथ हुई थी। सृष्टि कभी बिल्कुल पवित्र नहीं होती। सृष्टि के चित्रकाव्य के दिखलाने वाले यहाँ के लोगों ने दिति और अदिति को एक ही कश्यप की पत्नी बनाकर अपनी सूक्ष्मदर्शिता में कमाल कर दिखाया है। इस तरह प्रत्येक सृष्टि के अन्दर आसुर भावों का कुछ न कुछ अंश रहना सिद्ध होता है। इधर रामायण के रचयिता ने भी इसी सत्य की रक्षा के लिए सीता-जैसी ‘हरिहर ब्रह्मादिभिर्वदिता’ नारी कुलशिरोमणि के चरित्र-चित्रण में ज़रा-सा दाग़ दिखलाया है, लक्ष्मण के प्रति उनसे कटु प्रयोग करा कर। ऐसा न करते तो सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के विवेचन में सीता का चरित्र अधूरा समझा जाता। बात यह कि कोई सृष्टि निष्कलुप नहीं हो सकती।

## चावुक

परन्तु मुक्ति के विवेचन में ज़रा-सा भी कलुष पहाड़ के समान बाधक है—‘अवधू, अमल करै सो पावै’ । असत् या कलुष ही पुन-जन्म का कारण है—संस्कार और शरीर-धारण असत् के ही आश्रय में सम्भव हैं । शुद्ध सत्ता निर्वाज है । सृष्टि, स्थिति और प्रलय के नियम उसमें नहीं । समाज जब तक गतिशील है, सृष्टि के नियमों में बाँधा है, तब तक वह निष्कलुष नहीं, कारण वही, सृष्टि सदोष है । परन्तु चूँकि समाज निर्मलता की ओर गतिशील है, इसीलिए उसके अंगों से हर तरह के कलुष के निकालने की चेष्टाएँ की गयी हैं । इसीलिए समाज-शासकों ने अनेकानेक विधानों द्वारा उसे बचाने का प्रयत्न किया है ।

दोषों में संस्पर्श दोष भी एक माना गया है । इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है । विषय के संस्पर्श से ही मनुष्य में विषय की वृत्ति पैदा होती है । इसी तरह म्लेच्छों के राज्य में रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातीयत्व भी नष्ट होता है, दुराचरण फैलते हैं, समाज की अधोगति होती है, वर्णाश्रम धर्म नहीं रह जाता । इसी विचार से द्विजातियों को म्लेच्छों के राज्य में रहने से निषेध किया गया है ।

यहाँ तक तो यह म्लेच्छों के राज्य में न रहने के अनुशासन की एक जरा-सी व्याख्या हुई । प्रश्न असल यह है कि हजार वर्षों से म्लेच्छों के राज्य में बसकर जीवित रहने वाली, अनेक कुसंस्कारों की खान यह अपने लिए परम पावन द्विज जाति अब तक द्वितीय ही बनी हुई है या नहीं ।

जो लोग सृष्टि के ‘जन्म और मृत्यु’ इन दोनों रहस्यों को भली-भाँति जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि दिन और रात के जोड़े की तरह उत्थान और पतन का भी विवर्तन एक चिरंतन सत्य है । इस सत्य के बन्धन से मुक्त होकर उन्नतिशील द्विज जाति कभी पतन की

## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

अवस्था को प्राप्त होगी ही नहीं, यह कहना या किसी अन्य युक्ति से चिरंतन द्विजत्व की पुष्टि करना एक प्रकार की कठहुज्जती ही करना है ।

वर्ण-व्यवस्था पर जितने लेख निकले हैं उनमें से कोई भी लेख ऐसा नहीं, जो विवर्तित समय की मौलिकता या नवीन युग का यथार्थ भाव समझाता हुआ वर्ण-व्यवस्था की एक विचार-पुष्ट व्याख्या कर रहा हो । सबके सब अपनी ही धुन में लीन, अपने ही अधिकार के प्रतिपादन में निवृजित हो रहे हैं । शूद्रों के प्रति केवल सहानुभूति प्रदर्शन कर देने से ब्राह्मण धर्म की कर्तव्यपरता समाप्त नहीं हो जाती, न 'जाति-पाँति तोड़क मण्डल' के मन्त्री संतराम जी के करार देने से इधर दो हजार वर्ष के अन्दर का संसार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महामेधावी त्यागीश्वर शंकर शूद्रों के यथार्थ शत्रु सिद्ध हो सकते हैं । शूद्रों के प्रति उनके अनुशासन, कठोर से कठोर होने पर भी, अपने समय की मर्यादा से दृढ़-सम्बन्ध हैं । खैर, वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए जिस 'जायते वर्णसंकरः' की तरह के अनेकानेक प्रमाण उद्धृत किये गये हैं उनकी सार्थकता इस समय मुझे तो कुछ भी नहीं देख पड़ती, न 'जाति-पाँति तोड़क मण्डल' की ही विशेष कोई आवश्यकता प्रतीत होती है । 'जाति-पाँति तोड़क मण्डल' को मैं किसी हद तक सार्थक समझता, यदि यह 'जाति-पाँति योजक मण्डल' होता । 'तोड़' ही हिन्दुस्तान को तोड़ रहा है । देश या जाति में आवश्यकता उस समय उठती है, जब किसी भाव-संगठन या कृति का अभाव होता है । जाति-पाँति तोड़ने का अभाव एक समय इस देश में हुआ था जरूर पर ब्रह्म-समाज द्वारा बड़ी अच्छी तरह पूरा किया जा चुका है । ब्रह्म-समाज के रहते हुए संतराम जी आदि ने 'मण्डल' की स्थापना क्यों की, ब्रह्म-समाज ही की एक शाखा क्यों नहीं कायम

## चाबुक

कर ली, इस प्रश्न पर उत्तर क्या होगा, यह अनुमान से बहुत कुछ समझ में आ रहा है। यहाँ खड़ा होता है व्यक्तित्व और कुछ भेद। भाई जी के व्यक्तित्व को देश में ऐसा मनुष्य कौन होगा, जो आदर-पूर्वक न देखता हो और उनके व्यक्तित्व से जिस कार्य का संगठन होगा, उसे पृष्ठभूमि न मानता हो। परन्तु यह बात और है। इस लेख का उद्देश्य है, वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान सार्थकता, जिसमें एक ओर जाति-पाँति तोड़क मण्डल के व्यक्तित्व तक आया गया है, दूसरी ओर है प्राचीन हिन्दू समाज जिसकी संकीर्णता तथा अनुदारता की तरफ इशारा करके ही अनेकानेक समाज उसके अंग से छूटकर अलग हो गये हैं।

जब विचार की पहुँच किसी तरह सत्य तक हो जाती है उस समय मस्तिष्क की तमाम विशृंखलाएँ दूर हो जाती हैं। जरा देर के लिए एक प्रकार की शान्ति मिलती है। भारतवर्ष को मुक्ति की ओर ले जाने वाले आज तक जितने भी विचार देखने में आये हैं, वे राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक किसी भी दिशा में झुकाये गए हों, वैदान्तिक विचार की समता नहीं कर सकते। कोई भी 'मंडल' ऐसा नहीं, जिसमें कोई न कोई दोष न हो। कोई वाद ऐसा नहीं, जो जाति, देश या समाज को पूर्ण स्वतन्त्रता तक पहुँचा सके—जहाँ किसी प्रकार का विरोध न हो। भारतवर्ष की समाज-शृंखला उसी वैदान्तिक धातु से मजबूत की गयी है। कोई वर्णाश्रम धर्म को माने या न माने, पर अपनी प्रगति की व्याख्या में यदि वह वेदान्त को भी नहीं मानता, जैसा कि आजकल अधिकांश शिक्षितों की शिरश्चरण-विहीन युक्तियों में देखा जाता है, तो वह भारतीय कहलाने का दावा नहीं कर सकता। पहले भाई जी के सम्बन्ध में व्यक्तित्व का जिक्र आ चुका है। यहाँ यह कहना पड़ता है कि वैदान्तिक सत्यदर्शन



## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

की ओर जितना बढ़ा हुआ है, उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्वपूर्ण और अत्यन्त है। दूसरे, वैदान्तिक विचार भारतीय होने के अलावा एक दूसरे से संयोग करने वाले होते हैं, तोड़क नहीं। केवल भारत के लिए ही नहीं, तमाम संसार के मनुष्यों के लिए एक दूसरे के संयोग की आवश्यकता है, वियोग की नहीं। यदि हर मनुष्य से वियोग या तोड़न जारी रहा, तो यह जाति, देश या समाज के लिए कल्याणकर कब हो सकता है? योरप से भारतवर्ष की महत्ता में इतना ही फर्क है। योरप में प्रजा-विप्लव से लेकर आज तक जितने भी परिवर्तन हुए हैं, सब-के-सब तोड़क ही रहे हैं। यानी इसे नष्ट करो, तो यह दुरुस्त होगा—इस विचार के आधार पर हुए हैं। इस तोड़क-भाव का प्राधान्य वहाँ इसलिए है कि वहाँ के लोग भोगवादी हैं, उनके भोग में जहाँ कहीं कोई ठेस लगी कि उनका धैर्य जाता रहा—विद्रोह खड़ा किया और उसी के बल पर जो सुधार होना था हुआ। वहाँ की वाह्य प्रकृति के साथ संबद्ध मनुष्यों के मन की विचारधारा भी यहाँ वालों की विचारधारा के अनुकूल है। यह देश त्यागवादी है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी से लेकर गुरु-शिष्य और सन्यासियों में त्याग का ही आदर्श पैला हुआ है। यहाँ जीवन है अमृतत्व, जो त्याग से ही प्राप्त होता है। इस अमृत का जो जितना ही बड़ा अधिकारी है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही महान होगा और यह व्यक्ति घातक या तोड़क नहीं होता, किन्तु संयोग हुआ करता है। इसे ही वैदान्तिक साम्य-दर्शन कहते हैं। जिस तरह किसी मनुष्य-विशेष का व्यक्तित्व होता है, उसी तरह समाज का भी एक व्यापक व्यक्तित्व हुआ करता है। समाज के इस व्यापक व्यक्तित्व को युक्ति के अनुसार, अनार्यभावों द्वारा धक्का पहुँचता है, जिस तरह एक विशिष्ट व्यक्तित्व को भीतरी इतर वृत्तियों द्वारा। यहाँ के समाज-शासकों ने जो कठोर-कठोर नियम

शूद्रों के लिए बनाये हैं उसका कारण यह नहीं कि वे निर्दय थे और अपने अधिकारों को बढ़ाते रहना ही उनका ध्येय था। यदि हिन्दू नाम-धारी किसी मनुष्य के मुख से उन पर इस तरह के अपराध का लांछन लगाया जाता है तो चाहे वे महात्माजी हों या भाई जी या सन्तराम जी या कोई भी प्रतिष्ठित पुरुष, मैं निस्सन्देह कहूँगा आपने हिन्दू धर्म की केवल कुछ पुस्तकें ही देखी हैं, किन्तु उसकी व्याख्या करने की शक्ति आपमें नहीं है, आप उसके रहस्यों को नहीं समझते। एक बालक को राह पर लाने के लिए कभी तिरस्कार की भी जरूरत होती है, पर समझदार के लिए सिर्फ इशारा काफी कहा गया है। बालक फिर भूल जाता है, फिर प्रवृत्ति के बशीभूत होकर असत् पथ की ओर जाता है, पर समझदार से बार-बार गलती नहीं होती। तत्कालीन एक ब्राह्मण का उत्कर्ष और एक शूद्र का बराबर नहीं हो सकता। अतएव दोनों के दण्ड भी बराबर नहीं हो सकते। लघु दण्ड से शूद्रों की बुद्धि भी ठिकाने न आती। दूसरे, शूद्रों के जरा से उपकार पर सहस्र-सहस्र उपकार होते थे। उनके दूषित बीजाणु तत्कालीन समाज के मंगलमय शरीर को अस्वस्थ करते थे—उनकी इतर वृत्तियों का प्रतिघात प्रतिदिन और प्रतिमुहूर्त समाज को सहना पड़ता था। निष्कलुप होकर मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होने वाले शुद्ध परमाणुकाय समाज को शूद्रों से कितना बड़ा नुकसान पहुँचता था, यह 'मण्डल' के सदस्य समझते, यदि वे भागवादी, अधिकारवादी, मानवादी—इस तरह जड़वादी, न होकर, त्यागवादी, या आध्यात्मवादी होते। इतने पीड़नों को सहते हुए अपने जरा से बचाव के लिए—आदर्श की रक्षा के लिए—समाज को पतन से बचाने के लिए अग्र द्विज-समाज ने शूद्रों के प्रति कुछ कठोर अनुशासन कर भी दिये तो हिसाब में शूद्रों द्वारा किये गये अत्याचार द्विज-समाज को अधिक सहने पड़े थे,

## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

या द्विज-समाज द्वारा किये गये शूद्रों को ? उस समय भारतवर्ष का ध्यान अधिकार की ओर नहीं था । यह कहा जा चुका है कि समाज की प्रत्येक आज्ञा सत्य से सम्बन्ध रखकर दी जाती थी । यहाँ के समाज-पतियों के चरित्र की छानबीन करके उन पर लांछन लगाना होगा । शंकर को क्या पड़ी थी, जो शूद्रों को हीन और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ बतलाते । उन्हें न तो ब्राह्मण से कुछ लाभ ही था, न शूद्रों से कोई नुकसान । एक विरक्त और इतने बड़े त्यागी पर लांछन लगाना क्या शूद्रत्व के समर्थकों की मानसिक दुर्बलता का ही परिचय नहीं ? अपितु इस तरह यह सिद्ध करना कि शंकर को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई थी, ब्रह्म के दर्शन नहीं हुए थे । ब्रह्म के दर्शन करने वाला महापुरुष किसी का शत्रु और किसी का मित्र होता है, द्वेष-भाव रखता है, यह संतराम जी कह सकते हैं । और जो पीपल, ताजिया आदि के पूजकों का मखौल उड़ाया गया है यह भी सिद्ध करता है लेखक को आध्यात्मवाद का कुछ भी ज्ञान नहीं । यदि प्रह्लाद को खम्भे में श्री भगवान की मूर्ति दिखलाई पड़ती है तो पीपल-पूजकों ने ही कौन-सा कसूर कर डाला है । ईश्वर किस केन्द्र में नहीं हैं ? ताजिया पूजना भी हिन्दुओं की उदार पूजा की भावना का ही परिचय देता है । जहाँ हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं—ईश्वर की अभेदता जाहिर है । शंकर ने जो अनुशासन दिये हैं वे अधिकारियों के विचार से ही दिये गये हैं । न शूद्रों ने अपने इतर कर्मों को छोड़ा, न वे उठ सके ! जो उदाहरण शूद्रों को मिलाने से मिलते हैं उनमें यही जाहिर है कि उनके हृदय में श्रद्धा आयी थी, वे अनार्य से आर्य हुए थे और आर्यों ने उन्हें अपनाया था । फिर कहना न होगा, जब सत्कार्यों का भार उनसे उठाया न उठा, तब रामदास और वशिष्ठ के नाम पर खड़े किये गये उस समाज ने अपना पूर्व मूषकत्व की

## चाबुक

संज्ञा फिर से प्राप्त कर ली । उनके लिए ऐसा कहना उचित नहीं कि वे गिरा दिये गये, बल्कि यों कहिए कि वे आप गिर गये । इस गिरने में हिन्दू समाज के द्विजस्व का क्या कुसूर ? यहाँ के समाज का तो मूल मंत्र ही रहा है—

‘उतिष्ठत् जाग्रत प्राप्यवराग्निबोधत्’ पारसी जैसी दूसरी जाति को जिस जाति ने शरण दी उस जाति के गौरव ब्राह्मण ने अंत्यजों को गिरा दिया । वह सन्तराम जी ही कह सकते हैं । पर मेरे पास मौन के सिवा उनके प्रति इसके उत्तर में और कोई शब्द नहीं ।

क्या तमाम राजनीतिक अधिकार, मुसलमानों की तरह, हिन्दु-स्तान की छाती पर रहकर भोग करना पारसियों के भी डण्डे का ही फल है ? जहाँ शूद्रों के प्रति स्मृतिकारों ने कठोर दण्ड की योजना की है वहाँ उन्होंने यह भी लिखा है श्रद्धापूर्वक शुभ विद्या श्रेष्ठ धर्म और सुलक्षणा स्त्री अंत्यजों के निकट से भी गृहया करो । इसका पुरस्कार उन्हें क्या दिया जा रहा है ? क्या इन पंक्तियों में अंत्यजों के बहिष्कार या विरोध की कोई ध्वनि निकलती है ?

सृष्टि की सभ्यता कभी नहीं रहती, तब अंत्यजों या शूद्रों की ही क्यों रहने लगी, ज्यों-ज्यों का यर्क घूमता गया, त्यों-त्यों असीरियन सभ्यता के साथ एक नवीन शक्ति, एक नवीन वैदान्तिक सभ्यता स्फूर्ति लेकर पैदा हुई, जिसके आश्रय में देखते-देखते आधा संसार आ गया । भारतवर्ष पर गत हजार वर्षों से उसी सभ्यता का प्रभाव बह रहा है । यहाँ की दिव्य शक्ति के भार से झुके हुए निम्न श्रेणियों के लोगों को उसकी सहायता से फिर आने का मौका मिला, वे लोग मुसलमान हो गये । यहाँ की दिव्य सभ्यता असुर सभ्यता से लड़ते-लड़ते क्रमशः दुर्बल हो गयी थी, अन्त में उसने विकार-ग्रस्त रोगी की तरह विकलांग, विकृत-मस्तिष्क होकर अपने ही घरवालों से तर्क-वितर्क

और लड़ाई-भगड़ों पर कमर कस ली। क्रोध अपनी ही दुर्बलता का परिचायक है और अन्त तक आत्मनाश का कारण बन बैठता है, उधर दुर्बल को जीवन का क्रोध करना ही है, उसकी कोई भी व्याख्या नहीं। फलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-शक्ति परामृत होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। जब ग्रीक सभ्यता का दानवीय प्रभाव गत दो शताब्दियों से आने लगा, दानवीय माया अपने पूर्ण यौवन पर आ गयी, हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का शासन सुदृढ़ हो गया, विज्ञान ने भौतिक करामात दिखाने आरम्भ कर दिये—उस समय ब्राह्मण शक्ति तो परामृत हो ही चुकी थी किन्तु क्षत्रिय और वैश्य शक्ति भी पूर्णतः विजित हो गयी। शिक्षा जो थी अंग्रेजों के हाथ में गयी, अस्त्र-विद्या अंग्रेजों के अधिकार में रही, (अस्त्र ही छीन लिये गये, तब यह विद्या यहाँ रह गयी है और वह क्षत्रियत्व भी विलीन हो गया) व्यवसाय, कौशल भी अंग्रेजों के हाथ में है। भारतवासियों के भाग्य में बड़ा शूद्रत्व। यहाँ की ब्राह्मण-वृत्ति में शूद्रत्व, क्षत्रिय कर्म में शूद्रत्व, और व्यवसायी जो विदेशों का भाव बेचने वाले हैं कुछ और बढ़ कर शूद्रत्व अस्त्रियार कर रहे हैं, अदालत में ब्राह्मण और चाण्डाल की एक ही हैसियत, एक ही स्थान, एक ही निर्णय। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने घर में बैठने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रह गये। बाहरी प्रतिघातों ने भारतवर्ष के उस समाज-शरीर को, उसके उस व्यक्तित्व को समूल नष्ट कर दिया। ब्रह्म दृष्टि से उसका अस्तित्व ही न रह गया। भारतवर्ष की तमाम सामाजिक शक्तियों का यह एकीकरण-काल शूद्रों और अंत्यजों के उठने का प्रभात-काल है। प्रकृति की यह कैसी विचित्र क्रिया है। जिसने युगों तक शूद्रों से अपर तीन वर्णों की सेवा करायी और इस तरह उनमें एक अदम्य शक्ति का प्रभाव भरा और अब अनेकानेक विवर्तनों से गुजरती

## चाबुक

हुई, उठने के लिए उन्हें एक विचित्र ढंग से मौका दिया है। भारत-वर्ष का यह युग शूद्र-शक्ति के उत्थान का युग है और देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।

अगर शूद्र गालियों के बल पर ब्राह्मणों से ईर्ष्या करके उठना चाहते हों तो यह उनकी समझ में कमजोरी है। इस तरह भारत की किसी भी जाति का संगठन सुदृढ़ नहीं रह सकता है। कारण, कमजोर हुए ब्राह्मणों को गालियाँ देने से उठती हुई जाति तमाम ब्राह्मण-समाज पर विजय नहीं प्राप्त कर सकती। कायस्थों के समाज ने ब्राह्मणों के वहिष्कार के प्रस्ताव पास किये। पर इससे फल क्या हुआ? 'महाराज' जैसी उपाधि का भोक्ता इस समय भी याचक ब्राह्मण हुआ करता है पर लाला जी को समाज में कोई भी पंडित जी नहीं कहता। दूसरे, ब्राह्मण को गालियाँ तो सभी देते हैं। पर ब्राह्मण बनने का इरादा कोई भी नवीन संगठित जाति नहीं छोड़ती। इस तरह ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है। हम लोगों में जैसे ब्राह्मणत्व का लालच बढ़ गया है।

कुछ वर्षों पहले डल्मऊ (रायवरेली) में अखिल भारतीय अहीर सभा थी। सौभाग्य से मैं भी वहाँ मौजूद था। भारत के सभी प्रान्तों से अनेक भाई आये थे। कुछ अहीर कस्बे में दूध बेचने गये। मैंने एक से पूछा 'क्यों जी, अब तुम चाहे अहीर से कुछ और हो जाओ' उसने कहा—'हाँ कहते तो तुम क्षत्री हो। यहाँ चाहे जौन कहें, मुल्लै दूध बेचै का मना करिहैं तौ हम भाई साफ कहि देव हम दूध तौ बेचव बन्द न करव, चाहे अपने जनेइ उतरवाय लेउ—को हमारे घारा कै रारि भ्वाल लेई।' बात यह कि उसे वह क्षत्रिय होना मन्जूर नहीं जिससे दूध बेचना बन्द हो जाय और परम्परा से वह सुनता आया है—उसका विश्वास भी दृढ़ है कि दूध बेचने वाला कभी क्षत्री

## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

नहीं होता, वह अहीर ही है, चाहे जनेऊ में तीन ताग नहीं और बारह ताग उसके गले में डाल दिये जायँ। अब सन्तराम जी सोचें, जहाँ अहीर, बड़ई, कलवार और प्रायः सभी जातियाँ ( जिसके सिर समाज ने निम्नजातीय भावना का भूत सवार कर रखा है। ) यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय बन सकती हैं तो पानी भरने वाला या रोटी बनाने वाला ब्राह्मण फिर क्यों नहीं ब्राह्मण रह सकेगा। इस तरह तो उसे एक और बल मिल रहा है। जिसे वह कल बड़ई कहता था, उसे ही अगर आज वह ब्राह्मण बनता देखे तो वह इतना कमजोर हो जावेगा कि दूसरों के मिस्त्री और बवर्ची कहने से वह अपने को मिस्त्री या बवर्ची समझेगा ?

और जरा एक और मजेदार बात सुनिये। ब्राह्मण देवताओं का अपमान भी कम नहीं हो रहा है। पहले के लिखे अनुसार, पूरे चालिस वर्ष के बाद अनेक जनेऊ धारण कर अहीर महा सभा के यज्ञ-कुण्ड से, निकले हुए हाल कौम क्षत्रिय, प्राचीन अहीर महाशय मेरी ससुराल से मेरे लड़के को ले जाने के लिए आये। मैंने सोचा, पुरानी प्रथा के अनुसार यह मेरे यहाँ की पकाई रोटियाँ अवश्य ही खाएँगे। अस्तु, उनके लिए मैंने वैसा ही इन्तजाम करवाया। उस समय मेरा लड़का घर में न था। वह आया तो कहने लगा— रोटियों का इन्तजाम आपने व्यर्थ ही करवाया, नानी के यहाँ तो इसने पूड़ियाँ भी नहीं खाईं। मैंने पूछा—क्यों ? उसने कहा, यह कहता है, अब मेरा जनेऊ हो गया है। अब मैं थोड़े ही कुछ खा सकता हूँ ? मैंने उस संस्कृत क्षत्री भाई से पूछा तो बात सत्य निकली। मैंने उसके लिए मिठाई मँगवा दी।

‘आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।’

## चावुक

इस बला को जब तक सन्तराम जी हिन्दू-जाति की जड़ से नहीं निकाल सकेंगे तब तक जाति-पाँति के जोड़ने में उन्हें सफलता शायद ही हो। महात्मा जी का जो उदाहरण दिया कि उनकी राय से एक ब्राह्मण बालिका का विवाह एक शूद्र कर सकता है, मेरे विचार से एक ब्राह्मण बालिका के मानी यहाँ एक शूद्र बालिका ही है। अगर ब्राह्मण बालिका का अर्थ महात्मा जी ब्राह्मण बालिका ही करते हों तो मैं सविनय निवेदन करूँगा, इतनी तपस्या करके भी महात्मा जी ब्राह्मण का अर्थ नहीं समझ सके। ब्राह्मण का तपस्या जन्म अर्थ ही लेता हूँ। जो उसका उचित निर्णय है। मुझे इसका भय नहीं कि दूसरों की तरह मुझ पर सन्तराम जी ब्राह्मणत्व के पक्षपात का दोष लगायेंगे। मैं यहाँ तक दिखला चुका हूँ कि समाज का व्यक्तित्व अब नहीं रहा। जड़वाद के इन्द्रजाल से भारत का अध्यात्मवाद समाच्छन्न सा हो रहा है। प्रत्येक गृह के विमार गुण रोगियों की अर्थहीन प्रलाप-वाणी सुनाई पड़ रही है। कोई भी चेला नहीं बनाना चाहता, गुरु बनकर शिक्षा देने के लिए सब तैयार हैं। भावों के सहस्र-सहस्र प्रतिघात प्रतिदिन टक्करें ले रहे हैं, एक दूसरे से लगते और मुरझाकर फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं।

ऐसी हालत में सहस्र आवर्जनाओं के भीतर दबी हुई भारत की यथार्थ जातीय शक्ति को उभड़ाकर प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा की तरह उसे जीवन देना एक अत्यन्त कष्ट-साध्य उपाय हो रहा है। परन्तु साथ ही यह विश्वास भी है, जबकि यह भारत है तो जीवन स्वयं ही अपना आलोक-पथ खोज लेगा। पौदों की वाढ़ कम अंधकार या छाया की ओर नहीं हो सकती। समाज के व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए पहले जो स्मृतियाँ, जो कानून प्रचलित थे, आज के लिए वे अनुकूल नहीं रहे। मुसलमान शासन-काल में तो भारत में संकी-



## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

र्शाता की हृद हो गयी थी । इस समय भी देहातों में इसी संकीर्णता का शासन है । परन्तु है यह अज्ञानजन्य और समाज में यह अज्ञान का राज्य शिक्षा के अभाव से ही फैला हुआ है । जबसे वेद-वेदान्त योरप में छुपने लगे, तबसे भारत के ज्ञान के लिए यह आवश्यक हो गया कि उसमें जातीय जीवन को रूढ़ियों और प्राचीन आचारों से मुक्त कर दिया जाय, उसमें प्रसार के लिए ज्ञान के बृहत्-से-बृहद् संस्कार छोड़े जायँ, अन्यथा अपर जातियों के पदार्थ-विज्ञान की उच्चता से लड़कर वह स्थाई न हो सकेगा । पृथ्वी और सूर्य के आकर्षण की तरह बृहत् और उदार ज्ञान का आकर्षण जिस तरफ हागा, अधिक शक्ति वहीं पर निहित होगी, दूसरे ज्ञान जो तुलना में उससे छोटे होंगे, उसी के चारों ओर चक्कर काटते रहेंगे । भारत की जातीयता को योरप के इस विज्ञान-युग की जातीयता से लड़ना है । परन्तु इस समय उसके पास अपार-विचारात्मक ज्ञान के जो महास्र हैं वे यूरोप के वर्धनशील विज्ञान के सामने पराजित तथा अवनत् हो रहे हैं । और, चूँकि पहले के कथन के अनुसार इस समय भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नहीं रहे—न इस अवस्था में रह सकते हैं, अतएव दास्य वृत्ति वाले भारत के लिए भौतिक विज्ञान से मुग्ध हो जाना—उसे आत्म समर्पण कर देना निहायत स्वाभाविक है । योरप में यथार्थ वैश्य और यथार्थ क्षत्रिय तक हां गये हैं और अवश्य कुछ ब्राह्मण भी हैं । यही कारण है कि इस शक्ति का सिक्का भारतवासियों पर जमा हुआ है ।

वहाँ के ज्ञानास्र को काट कर अपनी निर्मल जातीयता के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक है वेदान्त-ज्ञान । वेदान्त-ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य की मनुष्य से यह इतनी बड़ी धृणा न रह जायेगी और संगठन भी ज्ञान-मूलक होगा । योरप का संगठन स्वार्थ-मूलक है । यहाँ इस

## चाबुक

तरह के भाव कामयाब नहीं हो सकते। हिन्दू-मुसलमानों का भगड़ा भी इस तरह तय नहीं हो सकता। और तरह-तरह के विचार जो लगाये जाते हैं वे संसार में विवर्तन से उधार लिये विचार ही होते हैं। इससे अधिक पुष्ट विचार मेल के लिए और क्या होगा कि हर एक को अपनी आत्मा समझे, अपने सुख और अपने दुःख का अनुभव दूसरों में करें। सन्तराम जी जो वैवाहिक व्यवस्था पेश करते हैं वह भी इस तरह मन के मेल से सम्भव हो सकेगी, जैसा कि पहले था। अन्यथा यदि महात्मा जी की तरह विवाह का एक सूत्र निकाल दिया जायेगा कि एक अछूत एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर सकता है तो उत्तर में यह कहने वाले बहुत हैं कि एक ब्राह्मण-कन्या का किसी मुसलमान के साथ योरप जाना महात्मा जी ने रोका था और उसका विवाह एक दूसरे ( शायद ) ब्राह्मण से करवाया था। यदि हिन्दुओं की व्यापक जातीयता के लिए इस तरह के कानून निकाल देना न्यायानुकूल है, तो इस भारतवर्ष की छाती के पीपल मुसलमानों से सप्रेम रोटी-बेटी का सम्बन्ध जोड़ लेने से कौन राष्ट्रीयता की नाक कटी जा रही है ? इस तरह तो स्वराज्य हासिल करने में और शीघ्रता होगी। फिर मुसलमानों में प्रिय बनने की चेष्टा करते हुए भी महात्मा जी ने क्या एक मुसलमान के निर्दोष सप्रेम विचरण में बाधा नहीं दी ? क्या उसका हक महात्मा जी ने नहीं छीन लिया ? इसी तरह शूद्रों और अछूतों के प्रति भी महात्मा जी की सहानुभूति मौखिक ही न होगी, इसका क्या प्रमाण है, जब उनके यहाँ के विवाह अन्त्यजों से न होकर, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आज तक उन्हीं की श्रेणी में हुए हैं ! महात्माजी का विकास जिस तरफ से हुआ है, उसी तरफ के लिए उनके शब्द महान और संप्राण हैं। परन्तु वह एक धर्माचार्य भी हैं, स्मृतिकार भी हैं और अप्रतिद्वंद्वी शास्त्र विख्यात भी हैं—यह

## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

उनके अनुयायी ही सिद्ध कर सकते हैं। मुझे कुछ संकोच हो रहा है। राम के वाण तो सत्य भी हैं पर वन्दरों की विकृत मुखमुद्रा असह्य हो जाती है। विवाह के प्रसंग पर मैंने जो कुछ लिखा है, मैं जानता हूँ, महात्मा जी की महत्ता से मुझे क्षुब्ध मिल जावेगी, मुझे केवल उनके भक्तों से ही भय है, कारण भक्तों का परिचय कई बार मुझे प्रत्यक्ष हो चुका है। अछूतों के साथ रोटी-बेटी संबंध स्थापित कर उन्हें समाज में मिला लिया जाय या इसके न होने के कारण ही एक विशाल संख्या हिन्दू राष्ट्रीयता से अलग है यह एक कल्पना के सिवा कुछ नहीं। दो मनो की जो साम्य स्थिति विवाह की बुनियाद है और प्रेम का कारण, इस तरह के विवाह में उसका सर्वथा अभाव ही रहेगा और जिस योरप की वैवाहिक प्रथा की अनुकूलता सन्तराम जी ने की है, वहाँ भी यही की तरह वैपम्य का साम्राज्य है। किसी लार्ड-घराने की लड़की के साथ किसी निर्धन और निर्गुण मजदूर का विवाह नहीं हुआ। मुसलमानों में विवाह का कुछ ऐसा प्रतिबन्ध नहीं, पर मांगल बादशाहजादियाँ कुँवारी ही रहती थीं। कहीं यह साम्य अर्थ से लिखा गया, कहीं जाति से। यदि इस विवाह से ही हिन्दुओं का उद्धार होना निश्चित है, तो यहाँ के मुसलमानों के उद्धार के लिए तां कोई शंका ही न करनी थी, पर दुःख है कि इस वैवाहिक एकता को अंशतः कायम रखने पर भी वही उनके भाग्य किसी तरह भी हिन्दुओं के भाग्य से चमकीले नहीं नजर आते।

और जो बुलबुलशाह की ऐतिहासिक दुर्घटना का सन्तराम जी ने उल्लेख किया है इससे हमारे महाराज जयचन्द ही क्या कम थे। एक बार एक बंगाली विद्वान ने एक दूसरे बंगाली से मेरी तारीफ़ करते हुए कहा—यह महाशय उस देश में रहते हैं, जहाँ के महाराज जयचन्द थे, जिनकी कृपा से देश हजार वर्ष से गुलाम है। आप

## चातुक

समझ सकते हैं ऐसे चुभते हुए परिचय से उस समय मेरी क्या दशा हो गयी होगी। पर मुझे भी इसका करारा उत्तर सूझ गया और वही संतराम जी के लिए भी है। मैंने कहा—लाखों वर्ष तक देश को स्वाधीन तथा सम्पन्न रखने का श्रेय आपने हमें नहीं दिया, पर हजार वर्ष के लिए गिरा देने का उलाहना दे डाला। जिन्होंने इसे स्वाधीन रक्खा था उन्हीं ने गिराया भी। गिराने के लिए दूसरे थोड़े ही आते हैं। इसी तरह, एक ब्राह्मण की गल्ती से बुलबुलशाह के भी लाखों भाई मुसलमान हो गये। पर बुलबुलशाह के भाई जब हिन्दुस्तान 'सितच्छृत्रित' कीर्ति माडला हो रहे थे, उस समय 'स्वधर्म निधनं श्रेय परधर्मो भयावहः' की उस उल्टी व्याख्या ने ही हिन्दू धर्म को मुसलमान धर्म में विलीन होने से बचाया था। यदि उस समय मुसलमानों को धार्मिक उदारता के साथ ब्राह्मणों की वैदान्तिक उदारता ने अभेदत्व का प्रचार किया होता तो निःसन्देह इस समय हिन्दू धर्म के सुधार के लिए आवाज उठाने के कष्ट से सन्तराम जी बालबाल बच गये होते और शायद हम लोग इस समय अपनी दाढ़ियों में खुदा का नूर देखकर प्रसन्न हो रहे होते।

ब्राह्मणों में भी भंगी, चरशी, शराबी, और कवाबी हैं। पर इसलिए अन्त्यजों से उनकी तुलना नहीं हो सकती। दूसरे, तुलना यह इस तरह की है जैसे करोड़पति ऐयाश-दिल लड़के से किसी मज़दूर के ऐयाश-दिल लड़के की। लेख बढ़ रहा है, मुझे सब बातों के उत्तर देने का स्थान नहीं।

इस व्यापक शूद्रत्व के भीतर भी इस जाति के प्रदीप में जो कुछ ज्योति है, वह आचार, शील और ईश्वर-परायण लोगों में ही है। दूसरे देशों में धार्मिक कट्टरता भले ही राष्ट्र की जागृति से दूर कर दी गयी हो, पर वही धर्म से कट्टरता ही प्रधान थी, जिसके कारण यह

## वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति

फल हुआ है। यहाँ धर्म ही जीवन है और उसकी व्याख्या भी कहीं विशद है। यहाँ उसके व्यक्तित्व को बढ़ाने का उपाय है शिक्षा का सार्वभौमिक प्रसार। अंग्रेजी स्कूल और कालेजों में जो शिक्षा मिलती है उससे दैन्य ही बढ़ता है और अपना अस्तित्व भी खो जाता है। बी० ए० पास करके भोगुर लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे तो सन्तराम जी ही की तरह उन्हें हास्यास्पद होना पड़ेगा। पर महात्मा जी की तरह त्याग के मार्ग पर अग्रसर होने वाले के सामने आप ही ब्राह्मणों के मस्तक श्रद्धा से झुक जाया करेंगे। भारतीय शिक्षा के प्रसार के साथ ही शूद्रों तथा अन्त्यजों में शुभाचरण के कुछ संस्कार जागृत किये जायँ। दूसरी दो जातियाँ जिस तरह ब्राह्मण और क्षत्री बन रही हैं, उसी तरह उन्हें भी एक कोठे में डाल दिया जाय यह तो हुआ एक प्रकार का संगठन। रही बात पूर्ण वैदान्तिक व्यक्तित्व की सो वह विशाल व्यक्तित्व एक दिन में कहीं प्राप्त हो सकता है। वह तो भारत के सतयुग के लिए कठिन है। परन्तु उन्नति का लक्ष्य वही होना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्री जातियाँ देश की रक्षा के लिए बहुत लड़ चुकी हैं। अब कुछ शुभ संस्कारों के सिवा उनके पास कुछ नहीं रह गया। उठने वाली जातियों की विरासत में उन्हीं गुणों, उन्हीं महास्त्रों का ग्रहण करना होगा। वृद्ध भारत की वृद्ध जातियों की जगह धीरे-धीरे नवीन भारत की नवीन जातियों का शुभागमन हो, इसके लिए प्रकृति ने वायुमण्डल तैयार कर दिया है। यदि प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्री जातियाँ उनके आने में सहायक न होंगी तो जातीय समर में अवश्य ही उन्हें नीचा देखा होगा। क्रमशः यही अन्त्यज और शूद्र, यज्ञकुण्ड से निकले हुए अद्रम क्षत्री की तरह, अपनी चिरकाल की प्रसुप्त प्रतिभा की नवीन स्फूर्ति से देश में अलौकिक जीवन का संचार करेंगे। इन्हीं की अजेय शक्ति

## बातुफ

भविष्य में भारत को स्वतन्त्र करेगी । अभी देश में वैश्य-शक्ति का उत्थान नहीं हुआ, महात्मा जी जिसके अग्रदूत हैं, फिर क्षत्री और ब्राह्मण शक्ति की बात ही क्या है ? देश की स्वतन्त्रता के लिए चारों शक्तियों की नवीन स्फूर्ति, इनका नवीन सम्मेलन अनिवार्य है और तब कहीं उस संगठित नवीन राष्ट्र में वेदोक्त साम्य की यथार्थ प्रतिष्ठा हो सकेगी ।



बहता हुआ फूल





रूपनारायण जी को बंगला से अनुवाद करने में बहुत कुछ प्रशंसा मिल चुकी है। परन्तु हमारा विश्वास है कि रूपनारायण जी के अनुवाद की जब जाँच की जावेगी तो जितनी उनके अनुवाद के कारण प्रशंसा हुई है उतनी ही निन्दा भी होगी, क्योंकि आपका अनुवाद ऐसा ही दोषपूर्ण होता है। अनुवाद का सत्य वही समझता है, मौलिक ग्रन्थ का चमत्कार उसी की दृष्टि में अपनी शोभनीय सृष्टि रखता है, अनुवाद और मूल दोनों की भाषाओं पर जिसका पूर्ण अधिकार हो। पाठकों को चाहिए कि हिन्दी की मौलिक पुस्तकों को अधूरी पुस्तकें पढ़ें, पर अनुवाद कभी न पढ़ें और जिन लोगों को अनुवाद करने का रोग है वे अनुवाद करके जीविकार्जन भले ही करते रहें, फिर पर साहित्य-सेवा और हिन्दी के प्रभूत उपकार की पगड़ी लपेटकर, उन्हें सातवें आसमान पर चढ़ाने की उदारता न दिखावें। इससे हिन्दी भाषा का कितना अपकार होता है—दूसरे प्रान्त के लोगों के सामने हिन्दी-सेवियों को किस तरह आँखें नीची करनी

## चाबुक

पड़ती हैं, जब अनुवादकों की प्रशंसा पर घृणा करके दूसरे प्रान्तों के लोग अपनी भाषा, अपने ग्रन्थ और अपने लेखकों की प्रशंसा करते हुए हिन्दी-सेवकों को हास्य-मिश्रित नीच तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं। तब विचारे निर्दोष साहित्यिकों की क्या दशा होती है, यह वही समझते हैं जिन पर कभी ऐसी विपत्ति एकाएक टूट पड़ती है। हिन्दी-साहित्य-संसार से हम विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वह एक साधारण मूल पुस्तक के लेखक की जितनी प्रशंसा करे उसका शतांश भी अनुवादक की न करे। जब तक उसके हृदय में इस भाव की जड़ नहीं जम जायेगी तब तक उसे साहित्य के अपर क्षेत्र में हमेशा नीचा देखना पड़ेगा। मूल लेखक की कृति साधारण होने पर भी हिन्दी के लिए अपनी चीज है। उसमें सुचारु रूप से प्रतिबिम्बित न होने पर भी जिस चित्र की स्पष्ट झलक देख पड़ती है, उससे अपने ही स्वरूप का पता चलता है। उसी को देखकर हम अपना स्वरूप सुधार कर सकते हैं, हमारा शृंगार उसी के द्वारा संवर सकता है। अतएव पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर न होने पर भी यदि मौलिक है तो उसके लेखक की जितनी प्रशंसा होनी चाहिए, वह जितनी सम्मान-प्राप्ति का अधिकारी है, एक अनुवादक उसके शतांश का भी नहीं। पर अनुवाद की आवश्यकता हर एक साहित्य में होती है और बिना अनुवाद के एक साहित्य दूसरे साहित्य की राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से परिचित हो ही नहीं सकता, अपितु संसार की प्रगति से अज्ञ बना रहता है। अतएव हिन्दी में भी अनुवाद की आवश्यकता है। परन्तु अब तक इस आवश्यकता की पूर्ति जिस उपाय से होती रही है, उसमें कुछ परिवर्तन होना चाहिये। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा जैसी प्रतिष्ठित संस्थाएँ योग्य मनुष्य चुन कर अनुवाद का काम

करावें तो उस अनुवाद का विद्वान-मण्डली भी विश्वासी हो और साहित्य से गन्दगी भी दूर हो । हमें विश्वास है, हिन्दी के आचार्य, संस्थाओं के संचालक, हिन्दी के प्रकाशक और हिन्दी के लेखक हमारी प्रार्थना पर ध्यान देंगे ।

सच्चा अनुवाद करने के लिए कितने बड़े ज्ञान की आवश्यकता है यह वही समझते हैं जो भाषा-विज्ञान के अधिकारी कहलाते हैं । जिन्हें शुद्ध अपनी भाषा भी लिखना नहीं आता वे यदि दूसरे भाषा में आचार्य बने घूमें, तो उनकी इस अहमन्यता की सच्चे मर्मज्ञ क्या समझेंगे उन्हें इसका भी ख्याल नहीं होता । मूल के साथ रूपनारायण जी के कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं । मूल में है—‘रानी बोलि-लेन—नाना विपिन आमार सोनार चाँद छेले, और शरीरे एतोडुक दोष नाई’ इसका अनुवाद है—बड़ी बहू ने कहा—ना ना मेरा विपिन वैसा लड़का नहीं है, वह हजार दो हजार में एक लड़का है, उसके चाल-चलन में रत्ती भर दोष नहीं ।

यहाँ रूपनारायण जी का ना ना अशुद्ध और देहाती है । शुद्ध हिन्दी के अनुसार नहीं नहीं होना चाहिए । कुछ लोग ऐसे स्थलों में ना ना प्रयोग करते हैं, परन्तु है यह बड़ा भद्दा प्रयोग । यहाँ दूसरी जगह भी पाण्डेय जी चूके हैं परन्तु ऐसी त्रुटियाँ क्षम्य हैं :

‘अमनि रानीर कथार सूत्र धरिया मा बोलिया उठिलो’ का अनुवाद है—वैसे ही बहू रानी के स्वर में स्वर मिला कर मा बोल उठी । अनुवादक महाशय शायद नहीं जानते थे कि कथार सूत्र धरिया ‘स्वर में स्वर मिलाना’ नहीं ।

मूल में है ‘दादा बाबूर साधु चरिविस्ता आर एक वार कर बोलते’ इसका अनुवाद है—बड़े बबुआ का चाल-चलन तो ऐसा अच्छा है कि वैसा किसी भी लड़के का न होगा’ नहीं, और आपका

## चाबुक

अनुवाद जो 'एतो भावता आर एक वार करे बोलते' इस तरह के मुहाविरों पर इतनी वेदरदी से हाथ साफ न किया करें तो बड़ी कृपा हो ।

'किन्तु वापू रात दिन सुधुपड़ा आर पड़ा, ये कि रकम वाई' इसका अनुवाद है—'लेकिन लिखने-पढ़ने की ऐसी धुन सवार रहती है और किसी तरफ ध्यान ही नहीं देता ।' पाण्डे जी यह आप अनुवाद कर रहे हैं या विस्तारपूर्वक इसका भाष्य लिख रहे हैं ।

'नइले जावोलो, ता वोलो वापू और बुद्धि शुद्धि आछे, एक एकटा कथा बोले भालो ।' इसका अनुवाद है—'लेकिन ईमान की बात वह है कि बात पते की कहती है । और सबसे (१) समझदार (२) भी है ।' क्यों न हो जब आप जैसे समझदार अनुवादक मिल गये ।

'खुण्डी माँ अन्दरेर दिके फिरिले न' का अनुवाद है 'चाची अम्मा वहाँ से चल दीं ।'

'खुण्डी माँ सातर स्वरे बोलिलेन-ए वाड़ी ते अमार आ आर वेशी दिन टिकते होवे ना भट्टाचार्य मोशाय, तार परिचय अमि ओ यथेष्ठई पाच्छी ।' का अनुवाद है—'चाची अम्मा ने कातर स्वर से कहा—भट्टाचार्य जी इस घर में मैं अधिक दिन तक नहीं टिकने पाऊँगी । इसका परिचय मुझे यथेष्ठ मिल रहा है ।' 'मत्तिका स्थाने मत्तिका' लिखकर पाण्डे जी चूक गये । इसका परिचय भी मुझे यथेष्ठ मिल रहा है । नहीं मूल अर्थ कुछ और है, मूल का अर्थ है मुझे भी यथेष्ठ परिचय मिल रहा है । पाण्डेय जी ने अपनी माधुरी के नोट में ही—भी, के इधर-उधर हो जाने पर आक्षेप किया था । जरा देखिये एक 'भी' के इधर-उधर के होने से अर्थ में कितना परिवर्तन हो जाता है । अनुवाद छोड़कर साहित्य की बारीकियों पर विचार करने के लिए शायद

आपको अभी समय नहीं मिला, देखिये, मूल में भी 'आगिया' है।

'बुद्धि भ्रष्ट होते (!) देखकर' 'तुम्हारे ऊपर ( नीचे नहीं ? ) अत्याचार नहीं कर सकेगा' इस तरह की सैकड़ों भूलें हैं।

'इहार पर नव किशोर, निर्विवादे ग्रामेर भूल हो इते भाइ नर पास केरिया वृत्ति पाइलो'—इसका अनुवाद है—इसके बाद नव किशोर ने वृत्ति पाई मूल में निर्विवाद है फिर क्या, अनुवाद में बिना किसी विवाद के होना ही चाहिए। 'पंडित जी', निर्विवाद का मतलब है—'आवश्यक'। आप इतना तो समझते हैं कि बेचारे विद्यार्थी को क्या पड़ी थी—जो विवाद करके पास करता 'निर्विवाद' बंगला में निर्दोष व्यंग का भी बोधक है। 'नव किशोर एई कथाय तारक एके वारे ज्ञेपिया गया विप्रम तर्क जुडिया दिता'—इसका अनुवाद है—'नव किशोर की इस बात से तारक एकदम पागल हो उठा और उसने घोर तर्क ठान लिया' 'दिता' और 'दिया' काल के भाष महा अकाल पड़ गया है।

'विपिनेर पिता हरि विहारी हालका छिपे छिपे छोटे खाटो गौर वर्ण लौकुटी'—इसका अनुवाद है 'विपिन के पिता हरि विहारी इकहरे लम्बे डील के ( जो नन्हीं, छोटे डील में, या नाटे ) और गोरे थे। 'ताहा देर भाव प्रवण तरुण हृदय आगुनेर, पुलकीर मत नई स्वाधीन आनन्देर उज्ज्वलाय ज्ञेणे-ज्ञेणे आपना दिगके चारि दिके विकीर्ण करिते थाकितो' अनुवाद, 'उसका भाव-प्राण तरुण हृदय सिंक रही फुलकी (रोटी) की तरह स्वाधीन आनन्द से फूल-फूल उठता था।' खूब। पंडित जी, जान पड़ता है जिस समय आप अनुवाद कर रहे थे उस समय भूल बड़े जोर की लगी थी, नहीं तो रोटी क्यों सेंकते? यहाँ न कहीं रोटी है न दाल, 'फुलकी' है सो वह भी चिनगारी है। रोटी नहीं। 'चिनगारी' की

## चाबुक

जगह रोटी सेंकना आपही जैसे स्वयं-सिद्ध अनुवादक का काम है । कल्पना भी कैसी ! मूल में तो है 'विकीर्ण करिते थाकितो' अनुवाद में 'फूल-फूल उठता था' । चिनगारी रोटी थोड़े ही है जो फूल-फूल उठेगी । मूल के 'विकीर्ण करिते थाकितो' से 'चिनगारी' का भाव भी व्यक्त होता है । 'फूल-फूल उठना' 'रूप नारायण जी की रोटी' के लिए ही उपयुक्त है । अच्छा है, 'सैंकिये रोटी' ।



चरित्रहीन





हिन्दी में आज-कल जितने ग्रन्थरत्न निकल-निकल कर पाठकों की दृष्टि में चकाचौंध लगा देते हैं उनमें से ३ अंश अनुवादित ग्रन्थों का होता है। कोई-कोई ग्रन्थ हिन्दी अक्षरों में लिखे जाने पर भी कोट-पैण्ट डाले और हैट लगाये खासा स्वांग-सा भरकर, हिन्दी के मैदान की हवा खाते फिरते हैं। कोई-कोई, आधी जनानी सूरत बनाये, स्लीपर चटकाते हुए, ललित लवंग लता की सी सुकुमार दृष्टि से हिन्दी-भाषियों के पुरुषत्व का पोड़ा पहुँचाया करते हैं। जिस तरह वहिः संसार में अंग्रेजा, बंगाली, मराठी, गुजराती, पारसी आदि कितनी ही जातियाँ भिन्न-भिन्न रूपों से अपने वैचित्र्य के दृश्य दिखलाती हैं उसी तरह हिन्दी-संसार में भी समझिये।

अभी कुछ दिन हुए बँगला के एक ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हुआ है। मूल पुस्तक बँगला के श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक बाबू शरत्चन्द्र चट्टोगाध्याय की लिखी है। नाम है 'चरित्रहीन'। इसके हिन्दी के अनुवादक हैं शरत् बाबू के एक मित्र। मालूम नहीं, शरत् के मित्र

## चावुक

ने अपना पूरा नाम क्यों नहीं लिखा। अस्तु, अधिक मुखबंद की आवश्यकता नहीं, जरा अनुवाद का आनन्द लूटिये।

अनुवाद का चमत्कार दिखलाने के पहले, हम अनुवाद के नियमों पर कुछ निवेदन करना चाहते हैं। एक बार मैं अपने व्यक्ति रूप से हिन्दी धुरन्धर के आचार्य पूज्यपाद पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के दर्शन करने गया था। एकाएक अनुवाद का प्रसंग चल पड़ा। मैंने उनसे, उसके नियम पूछे। द्विवेदी जी ने कहा, आम भाषाओं पर अनुवादक का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। आम भाषाओं के मुहाविरें बिना जाने अनुवाद में सफलता नहीं होगी। दूसरे, अनुवाद के लिए वह कोई नियम नहीं कि मूल पुस्तक का अक्षरशः अनुवाद किया जाय, परन्तु यह भी ठीक नहीं कि मूल पुस्तक की अर्थ-ध्वनि कुछ और हो और अनुवाद की कुछ और। अनुवादक को सदा मूल के अर्थ पर ध्यान रखना चाहिये, उसी अर्थ को दूसरी भाषा में परिष्कृत कर देने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि मूल में कोई चमत्कार हो तो अनुवाद में भी चमत्कार दिखलाना चाहिए। मूल की भाषा में यदि किसी ऐसे मुहाविरें (Idiom) का प्रयोग आ गया है जिसकी ओर स्वभावतः पाठक खिंच जाय तो अनुवाद भी उसी ढंग का करना चाहिए। सारांश यह है कि मूल की भाषा और भावों से अनुवाद की भाषा और भावों को शिथिल न होने देना चाहिए। यही अच्छे अनुवाद और सफल अनुवाद के लक्षण हैं। बहुत जगह एक भाषा का मुहाविरा दूसरी भाषा में नहीं आता। वहाँ अपनी साधारण भाषा में किसी दूसरे ढंग से और कुछ नहीं तो भाषा-सौष्ठव ही दिखा देना चाहिए। यदि अनुवादक दब गया—मूल भाषा को पढ़कर उसके भाव-गाम्भीर्य पर अपना अधिकार न जमा सका तो उसे सफलता नहीं हो सकती।

अच्छा तो अब शरत् बाबू के मित्र का अनुवाद देखिये—मूल में है 'किन्तु ए खन कथा हईते छे से एक जायगा चुप करिया वासिया याकिते पारा जायना किछु बला आवश्यक । एक जनेर (दिके चाहिए) बलिलेन, किन्तु बला चाई हे, सभापति सेजे सभार उद्देश्य सम्बन्ध । एक वारे अंध थाका त आमार काछे भाव डेरेना, किल बल तोमरा ?' इसका अनुवाद है—'लेकिन बात यह थी कि यहाँ चुपचाप बैठना मुश्किल था, कुछ न कुछ बोलना जरूरी था । एक आदमी की ओर इशारा कर बोलें—अरे भाई कुछ कहो भी तो ? सभापति का स्वांग भर सभा के उद्देश्य के सम्बन्ध में विलकुल अनभिज्ञ रहना मुझे अच्छा नहीं लगता, तुम लोगों की क्या राय है ।'

इस अनुवाद में शरत् बाबू के मित्र को ही जब ऐसा धोखा हो गया तब भला इसके अनुवादक जो कोसों दूर रहते हैं, अनुवाद करते समय किन-किन कठिनाइयों का सामना करते होंगे ? परन्तु शरत् बाबू ने यदि, उद्धृत उतना अंश एक अलग पैराग्राफ में लिखा और यही उचित था तो उनके अनुवादक मित्र ने 'किन्तु' से पैराग्राफ का आरम्भ हुआ देख, उस शब्द के संयोजक गुण के कायल होकर उसके लिए अलग पैराग्राफ की सृष्टि न करके उसे पिछले ही पैराग्राफ के साथ जोड़ दिया । फल यह हुआ कि अर्थ में यहाँ अनर्थ पैदा हो गया । शरत् बाबू के वाक्यों की ध्वनि एक अशेष अर्थ की ओर इशारा करती है तो अनुवादक की ध्वनि में एक दूसरी ही तान उठ रही है ।

बात यह कि कुछ लड़के उपेन्द्र को सभापति बनाने के लिए उनके पास आये हैं और छात्र-मण्डली प्रायः उपेन्द्र को ही सभापति चुनती है । क्योंकि छात्र-जीवन में उपेन्द्र सफलतापूर्वक परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए थे । इसलिए लड़के अब भी उनका सम्मान करते हैं । अस्तु उपेन्द्र छात्रों से सभा का उद्देश्य पूछते हैं, ताकि सभापति के

## चावुक

आसन पर से, उनसे, उस विषय पर पहले ही से तैयार हों कुछ कह सकें। इस बात का समर्थन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—‘किन्तु एखन कथा हइते छे जे, एई जागा टिते शुधु चुप करिया बसिया जामना कछु बला आवश्यक।’ इसकी अर्थ-ध्वनि यह है, ‘परन्तु इस समय बात यह है कि इस आसन पर चुपचाप बैठा तो जाता नहीं—कुछ बोलना ही पड़ता है।’ इसके पश्चात् ग्रन्थकार उपेन्द्र की ओर मुड़ते हैं। कहते हैं—(अतएव उपेन्द्र) एक आदमी की ओर इशारा करके बोले—‘किछू बला चाहते हे।’ (मुझे) कुछ कहना भी तो चाहिए। इसे अनुवाद करते हुए शरत् बाबू के मित्र लिखते हैं ‘अरे आओ कुछ कहो भी तो।’ अब देखिये ‘मुझे कहना भी तो चाहिये’ और ‘अरे आओ कुछ कहो भी तो’ इन दोनों के अर्थ में कितना अन्तर है? उपेन्द्र के नाम में शरत् बाबू उपेन्द्र की अभिज्ञता सूचित करते हैं। उनके मित्र अपने अनुवाद में उपेन्द्र जैसे विद्वान अज्ञता।

‘दाँतेर हाँसी’ का अनुवाद है ‘दन्त हास्य’। हिन्दी में यह एक नया आविष्कार है। अब तक दन्त-कथा का ही प्रयोग देख पड़ता था ‘दाँत’ और ‘हाँसी’ इन दोनों शब्दों पर देववाणी की मुहर लगाकर—शरत् बाबू के मित्र ने खतरे से अलग होने का उपाय भी खूब सोचा जिस तरह गम्योत्प्रेक्षा का एक अलग लक्षण बतलाने के पश्चात् लाला भगवानदीन जी ने सूचित कर दिया है कि सब प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ गम्योत्प्रेक्षा हो सकती हैं। उसी प्रकार हम भी कहते हैं हास्य, विकट हास्य, उच्च हास्य आदि के जितने बन्धु-बान्धव हैं, दन्त-हास्य में उन सबको जगह मिल जाती है। कारण, कैसा ही हास्य क्यों न हो, उसमें दन्त जरूर निकल पड़ते हैं। वहस एक मृदु या मन्द हास्य

के लिए हो सकती है परन्तु ओष्ठ हास्य यदि कृपा करके जरा द्वार खोल दें तो उसे भी दन्त हास्य का आसन मिल जाय ।

अनुवाद के चौथे पृष्ठ में है—‘लिखने-पढ़ने में मुझी को पकड़ रक्खा था ।’ हम इस तरह के लिखने-पढ़ने का विरोध नहीं करते । परन्तु ‘सरस्वती’ के किसी अंक में किसी लेखक महोदय ने अपने मित्र सम्पादक के पत्रों से ऊब कर उनको एक चिठी ही छाप दी थी । सम्पादक के पत्रों में लिखने-पढ़ने की चर्चा के सिवा और रहता ही क्या है ? इस पत्र में एक वाक्य इस दंग का था ‘आपके लेखक ने लिखने में मुझे तंग कर डाला ।’

एक जगह है ‘जाड़े का घाम पीठ पर सह कर सिर पर चादर लपेटे इन लोगों की मजलिस खूब जमी हुई थी ।’ यह यथार्थ रूपान्तर है । रूपान्तर होने के कारण ही यहाँ हिन्दी का स्वरूप कुछ बिगड़ गया है । वह ‘सहकर’ की जगह ज़रा सिकुड़ जाती है अनुवादकों का अत्याचार कहाँ तक सहे ? सिर पर चादर लपेटे और पीठ पर जाड़े का घाम सहते हुए लोग मजलिस में डटे रहे उसे भी कुछ आनन्द हो । जब पहले पहल हमने इस वाक्य को पढ़ा तो बड़े चक्कर में आये, कुछ समझ में नहीं आया । सोचा घाम से तप रहा है पीठ और चादर लपेटा सिर पर । यह कैसा । यह वाक्य तो वैसा ही है जैसा कि पीठ पर डंडे सहकर सिर पर मरहम लगाये हुए विश्व वाद्य राने लगे ।—जब मूल पुस्तक से मिलाया तब उसका भाव समझ में आया ।

मूल में है—‘वास्तविकतौर में रूप संदिग्ध प्रकृति, ताते सन्देह हो तेइ पारे, तुई ईश्वर पर्यन्त मानिसवे ।’ इसका अनुवाद है असल में मेरी जैसी संदिग्ध प्रकृति है उससे एक संदेह होना स्वाभाविक ही है कि तू ईश्वर तक को नहीं मानता । ‘मूल में तो है—तेरी संदिग्ध

## चाबुक

प्रकृति, परन्तु अनुवाद में है 'मेरी संदिग्ध प्रकृति।' हमें शंका होती है यह अर्थ का अनर्थ पाठक समझेंगे कैसे ? कहाँ उपेन्द्र बड़े जेड़े की तर, सतीश के सन्देह के कारण, उसे समझाते हैं। कहाँ वह कुल सन्देह शरत् बाबू के मित्र की कृपा से उलट कर उपेन्द्र ही पर सवार हो जाता है। ऐसी भूल प्रूफ देने की गल्ती से हो जाया करती है। परन्तु अनुवादक महाशय जहाँ लिखते हैं। उससे एक सन्देह होना स्वाभाविक ही है। इस जगह 'एक' आपको कहाँ मिल जाता है। कुछ समझ में नहीं आता यह 'एक' है भी कितना भद्दा। एक सन्देह होना नहीं 'यह सन्देह होना चाहिए था।'

'सतीश बालितो हा अदृष्ट ! ईश्वर मानिन ? भयंकर मानी— इसका अनुवाद है—सतीश ने कहा—हाय भाग्य । ईश्वर भी नहीं मानता । बड़े जोरों से मानता हूँ।' बंगला में 'भयंकर मानी' में भयंकर शब्द का प्रयोग मुहाविरा है और 'भयंकर' कह कर बनावटी भय के साथ-साथ सतीश मीठी चुटकी भी ले रहा है परन्तु अनुवाद में न कहीं मुहाविरा है, और न कहीं मीठी चुटकी। हाँ, बड़े जोरों से गंवारपन अवश्य सूचित हो रहा है। दूसरे बड़े जोरों से मानना हिन्दी का मुहाविरा नहीं। वेहद मानना, हद से ज्यादा मानना, आवश्यकता से अधिक मानना, न जाने और कितने हैं। इनसे अगर दिल्ली की भाव में कोई कंठ कसर रही जाती हो तो वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम न लगाकर आश्चर्य सूचक, आनन्द सूचक, हर्षातिरेक सूचक, एक मात्र चिन्ह ! लगा देते।

अब तक कलह के जो मेघ मूर्तिमान हो रहे थे, वे सब इसी हँसी की आँधी में ऐसी गड़े कि पता ही न लगे। इस अनुवाद में अन्त का 'लगे' 'लगा' बनाना चाहता है मूल में 'उद्देश्य, रहिल ना, से भी 'लगा' लगता है। 'तमाकेर जन्य हाँका हाँकी करते लागिबो' का

अनुवाद है—‘तम्बाकू के लिए शोर करने लगा। हाँका हाँकी का भाव यहाँ शोर करने से बिगड़ जाता है, जोर-जोर पुकारना ही बहुत है’ ‘जे अन्धकार सेई अन्धकार’ का अनुवाद है—जां अन्धकार है वह अन्धकार ही है (!) क्यों नहीं।

‘मेम्मे ऊपर’ का अनुवाद चटाई पर किया गया है। मेम्मे चटाई नहीं (Floor) है दिल्कुल जमीन। आपका अनुवाद है—अन्दाजन वाइस-तेइस वर्ष के लगभग होगा। जब अन्दाजन लिख चुके तो लगभग क्यों लिखा। इस ‘चरित्रहीन उपन्यास’ की प्रधान पात्री सावित्री है। यह पढ़ी-लिखी है। किसी अच्छे कुल की लड़की है परन्तु अथ समाज की दृष्टि में पतित है। तमाम ससार में उसके लिए अपना कोई नहीं। घर-द्वार, बन्धुबान्धव बहुत पहले ही छूट चुके हैं। अलग एक मकान में रहती है। मेस में काम करती है, उसी से जीविका चलती है। युक्त प्रदेश का महरियो और मजदूरिनों से बंगाल की ‘भ्नी’ में बड़ा अन्तर है। भाव एक ही है। परन्तु शब्दगत जो लावण्य ‘भ्नी’ शब्द में है वह महरिन और मजदूरिन में नहीं। बंगाल में कन्या के अर्थ में ‘भ्नी’ शब्द ‘दुदितृ’ का अपभ्रष्ट रूप है या ‘धात्री’ का। कुछ भी हो, है यह शब्द श्रुतिमधुर और भाव कोमल। इस शब्द में कुछ (Romance) भी है। इसका यथार्थ भाव मजदूरिन में नहीं आता। मजदूरिन में ना लावण्य है, न कोमलता, न अपनापन है न (Romance) है। अस्तु, ‘सावित्री’ का परिचय देते हुए शरत् बाबू लिखत हैं ‘सावित्री’ मसेर भ्नी एवं ‘गृहिणी’ इसका अनुवाद करते हुए शरत् बाबू के मित्र लिखत हैं ‘सावित्री’ मेस का मजदूरिन भी है और घर की मलकिन भी। ‘चरित्रहीन जैसे रोमैण्टिक उपन्यास की प्रधान पात्री को, प्रथम परिचय में ही, मजदूरिन बतलाना, अनुवाद की रोमैन्स हानता का परिचय है। जिस तरह शरत् बाबू के मित्र

## चाबुक

ने 'मेस' शब्द को अपनाया है अच्छा होता यदि 'भी' शब्द भी अपनाते। 'भी' के परिचय में एक छोटा सा नोट लिख देते तो पाठक समझ जाते। इसकी बड़ी नायिका को 'मजदूरिन' के रूप में लाना अच्छा नहीं हुआ। पढ़ने वालों की रुचि त्रिगड़ जाती है। सतीश, जैसे अच्छे खानदान के युवक को 'मजदूरिन' से प्रेम करते देख पाठकों की रुचि भ्रष्ट हो जाती है। रोमैन्स के बदले उनमें एक वीभत्स भाव भर जाता है। 'मजदूरिन' से तो दामी अच्छा था। भाव दोनों में एक होने पर भी शब्द लालित्य की दृष्टि से बराबर नहीं है और चाहे जिस तरह आप भी का भाव प्रकट करते, पर मजदूरिन का वीभत्स शृंगार पाठकों को न दिखाना पड़ता।

मूल पुस्तक में शरत् बाबू लिखते हैं 'शुभ कर्मरि गोलतेई टुकोना बोलछि' इसका अनुवाद है 'शुभ कार्य के आरम्भ में ही गोल-माल मत करो कहे देता हूँ।' टुकोना का अर्थ गोलमाल मत करो, कहे देता हूँ, किया गया है। समझ में नहीं आता शरत् बाबू के मित्र शरत् बाबू से मिलते हैं तो किस भाषा में बातचीत करते हैं। यदि बंगला में करते होंगे और बहुत सम्भव है बंगला में ही करते हों, क्योंकि गुह्य माख्याति पृच्छति' प्रीत लक्षणों में ही शामिल है। तो क्या वे 'टुकोना' जैसे प्रचलित व्यंग शब्द का भी अर्थ न जानते होंगे, थोड़े देर के लिए अगर मान भी लिया जाय कि नहीं जानते बंगला, इस बीसवीं सदी की सभ्यता के अनुसार दुभाषिये की सहायता से भी मित्रता की रस्में सोलहों आने पूरी उतार दी जाती हैं तो क्या उनके साधारण हिन्दी ज्ञान में भी कोई अधूरापन है। अगर 'टुकोना' को हम 'टोको न' बना दें तो यह 'न' के साथ ठेठ हिन्दी का 'टोको' क्रिया बन जाती है। 'टुकोना', यानी 'न टोको,' या 'मत टोको'— पर गोलमाल मत करो लिखकर तो 'मत टोको' के साथ ज्यादाती



करना ही होता है ।' 'टांकना' वेचारी 'गोल-माल' करना क्या जाने ? उसके तो जरा जुवान हिलाने ही से शुभ कर्म पर आफत टूट पड़ती है गोलमाल करे तब प्रलय हो जाय । लिखा है—'देश के कितने ही दरिद्र हैजे में पड़कर चौपट हो जाते हैं ।' हाँ ! देश के कितने ही दरिद्र हैजे में चौपट हो जाते हैं । अगर हम लिखें, राम न करे अनुवादक महाशय हैजे में पड़ें तो अनुवादक महाशय को अपने साथ हैजा शब्द देखकर, जितना कष्ट होगा, हमें 'हैजे' के साथ 'पड़कर' देखकर ही उतना कष्ट हो रहा है । दूसरा आक्षेप यह है कि शरत् बाबू तो हैजे में गरीबों को उजाड़ रहे हैं । परन्तु अनुवादक महाशय गरीबों को हैजे में डालकर चापट कर रहे हैं । अच्छा है, कीजिए जो जी में आये ।

'क्षणकाल परे तामाक साजिया' का अनुवाद है 'पल भर में वह तमाकू भर लाई, 'पल भर' का प्रयोग शीघ्रता बोधक अर्थ में ही किया जाता है । जैसे हम पल भर में यह काम कर सकते हैं जहाँ 'पल भर' का इशारा, पल भर के थिलम्ब को और होना है वहाँ पल भर के वाद का ऐसा प्रयोग ठोक नहीं । 'पल भर' के वाद तमाकू भर लाई, यहाँ पल भर के वाद, खटकता है । इसके समानार्थ के वाक्यांश हिन्दी में बहुत हैं ।

'साबित्री बोलिली, आज मिथ्ये तमाम करलेन ।'

सतीश कहिली—'एइटेइ सत्य । आभार घाटता किछु स्वतन्त्र, ताई भाके भाके एरूप ना करके अभुख होई पड़े ।'

इसका अनुवाद—साबित्री बोली—'आप झूठ झूठ बैठे रह गये ।' सतीश सच है मेरा ढंग ही कुछ निराला है । इसी से कभी-कभी ऐसा न करने से तबियत खराब हो जाती है । यहाँ हमारा मतलब

## चाबुक

सिर्फ सतीश के 'सच है' वाक्य से है। इसका सम्बन्ध दिखाने के लिए ही आगे और पीछे का उतना अंश हमने उद्धृत किया है। पहले तो इतना कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है कि मूल में 'एइटेइ सत्य' का 'सच है' अनुवाद सर्वथा अपूर्ण है 'एइटेइ' का यथार्थ अनुवाद है 'यह सच है।' इस वाक्य में, एइटेइ, में जोर दिया गया है। जैसे यह में जोर देने पर 'ही' आ जाता है और तब उसका रूप 'यही' हो जाता है। जब किसी वाक्य के किसी शब्द पर जोर दिया जाता है तब वही शब्द उस वाक्य का मुख्य शब्द हो जाता है, उसी पर पाठकों का ध्यान अधिक आकृष्ट होता है। शरत् बाबू ने 'एइटेइ सत्य' (यही सत्य है) लिखा तो उनका 'एइटेइ' भाषा विज्ञान के अनुसार एक विशेष अर्थ रखता है परन्तु अनुवादक महोदय ने इसे बिल्कुल छोड़ दिया। इस स्थल पर अनुवादक महाशय का अर्थ, भाव में, महा अनर्थ पैदा कर रहा है। भाव का तार बिना सम के रुके संगीत की तरह एकाएक टूटकर कानों में कटुता की तीव्र भ्रमकार भर देता है। अब विचारणीय यह है कि शरत् बाबू यदि सतीश से 'एइटेइ सत्य' (यही सत्य है) कहलाते हैं तो उस 'एइटेइ' (सही) का प्रयोग पहले किस शब्द या वाक्य के सर्वनाम के रूप से किया गया है। हमने सावित्री की उक्ति उद्धृत कर दी है। सावित्री के उद्धृत प्रथम वाक्य पढ़ने पर 'एइटेइ' का आवश्यकता समझ में आ जाती है। सावित्री कहती है—'आज मिथ्ये कामाई करलेन।' इस वाक्य में जोर 'मिथ्ये' शब्द पर है। इसलिए सतीश उत्तर में कहता है—'एइटेइ' (मिथ्या कामाई करले न) सत्य, 'अर्थात् जिम तुम मिथ्या समझती हो वही सत्य है। यहाँ 'मिथ्या' के विशेषण के रूप में, 'यही' का प्रयोग किया गया है। और मिथ्या और सत्य का जोड़ मिलकर—दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध ने शरत् बाबू ने सतीश के वाक्य में चमत्कार उत्पन्न कर दिया

## चरित्रहीन

है। परन्तु अनुवादक महोदय की कृपा से चमत्कार तो दूर रहा मूल का अर्थ भी गायब हो जाता है। अनुवादक के 'सत्य है' से सावित्री के वाक्य की ही पुष्टि होती है किन्तु उसमें 'मिथ्या' को सच साबित करने का भाव जड़ समेत उखड़ जाता है।

---



चाबुक



सुन लीजिए गोश-ए-दिल से मुश्फ़काये अर्ज ।

मानिन्द-बैत गुस्से से मत थरथराइये—इन्दा ॥

सम्पादक माखन लाल चतुर्वेदी सितम्बर (१९२३ ई०) की 'प्रभा' के विचार प्रवाह में 'प्यारे-निरक्षर' को बड़ी भावुकता से चित्रित करते हुए—यह दांप नहीं कि आपके लेख और टिप्पणियाँ भावुकता की मारी हुई रस की खोज में रसातल पहुँच जाती हैं, या दूर की कौड़ी लाती हैं—लिखते हैं—'बूढ़े मुजरिम मैं जब से तुम्हें जानने लगा हूँ ...'वाह भई यह तो तुमने अच्छी शैली ढूँढ़ी, तुम्हारे तू-तू में 'गौरवे बहुवचनम्' की जगह 'सम्योधने बहुवचनम्' की खासी बहार है। वना 'बूढ़े, मुजरिम' तशरीफ़ क्यों लाते, हाँ, 'बूढ़े' को 'बूढ़ा' कहो ता उसका अरमान होता, क्यों न ?

'भाड़ू' लिखते हुए यार तुमने तो कोई जगह भाड़ू ही फेरो है। यह लिख कर कि '...जोर जोर से स्तोत्र को लकोरें पुकारने लगा।' क्या कमाल किया है। चलो, अब रास्ता साफ़ है। अब तुमका भां

## चाबुक

पुकारेंगे और 'प्रभा' न आई तो 'प्रभा भी पुकारेंगे' और जोर-जोर स्तोत्र की लकीरें तो क्या विराम चिन्ह भी पुकारेंगे। हाँ एक बात और रह गई। उसी विचार में नीचे लिखा है—

‘क्या तेरे इस पाखंड पर भाडू नहीं पड़नी चाहिए?’ क्योंकि ‘यह भाडू पड़ना’ कहाँ का मुहावरा है। हाँ बंगला में इस ‘भाडू’ या ‘भाँटा’ के कितने ही प्रयोग होते हैं, तो क्या तुम्हें भी बंगला की बू पसन्द है? अरे यार यह खुमार है जो मर जाने पर भी १०५ डि० बना ही रहता है। जब कि ‘भाडू पड़ना’ हिन्दी का एक मुहावरा नहीं तो इसका सीधा अर्थ हुआ ‘भाडू गिरना’ अच्छा अब समूचे वाक्य का अर्थ तुम्हीं लगा कर देखो क्या मजा आता है।

कहीं-कहीं अव्ययों ने तो भावों तक का अपव्यय कर डाला है। प्रमाण यह लां—‘पीड़ित नर-नारी घास की रोटी बना कर खाते हैं फिर भी वे मर जाते हैं।’ ‘फिर भी’ को फांसी सी दी गई है, वह कहता है, अगर आप मेरा पीछा नहीं छोड़ना चाहते तो मेरे शुद्धि आन्दोलन पर ध्यान देकर अपने वाक्य को इस तरह लिखिये ‘फिर भी वे नहीं जीते।’ लोग घास-पात खाते हैं जीने ही के लिए और जबकि जीने का अभाव दिखलाने के उद्देश्य से ‘फिर भी’ का घसीटा ता ‘मरना’ धातु से भावों का साम्य नष्ट न होने देना चाहिए था। पहिले वाक्य का ध्वनि जीना है और दूसरे की उसका अभाव। अस्तु वह छिपी हुई ध्वनि तभी व्यक्त होगी जब दूसरे वाक्य की एक ही क्रिया से भाव और अभाव दोनों का स्पष्टीकरण हो जायगा। ‘अतएव’ फिर भी वे नहीं जीते—लिखना चाहिए था।

× × ×

सितम्बर, १९२३ की ‘सरस्वती’ में पं० रामचरित उपाध्याय की ‘सरलता’ शीर्षक कविता पढ़िये तो उसके कर्ण कटु शब्द ही आपके



हृदय से सरलता को घसीट कर बाहर निकाल देंगे, फिर मौके-बेमौके आपको शब्दों के विकट विन्यास के थपेड़े भी सहने पड़ेंगे। अगर इतने पर भी आपके होश ठिकाने न हुए तो पूरी कविता पढ़ डालने से पहिले ही आपको भविष्य व्याधि से बचने के लिए दस, ग्रेन 'कुन-यन' या तो किसी 'परगोटिव पिल' का सेवन करना पड़ेगा क्योंकि यह कविता इतने सहज हज़म होने की नहीं। आपकी कविता में कवित्व का तो कहीं पता नहीं पर उपदेशों की भरमार और उनका खासी बहार है। वक्र, बंक और टेढ़े-मेढ़े बन जाने के, आपकी कविता में एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। वानगी या नमूने के लिए लोग पहले हाथ बढ़ाते हैं। अतएव हमारे पाठक भी उदाहरण के रूप में नमूना देखने के लिए बचराते होंगे। अच्छा लीजिए यह पहली वानगी:

“सरल सबल के साथ निबल भी

प्रतिपल रहता कड़ा हुआ।”

इस पद्य से गद्य बनाइये तो ऐसा हांगा 'सरल' (और) सबल (मनुष्य) के साथ निबल (मनुष्य) भी (१) प्रतिपल कड़ा हुआ (!) रहता है।

इस पद्य में 'हुआ' के साथ एक तुक मिलाने के उद्देश्य से ऐसी मनमानी की गई है। शब्दों का प्राणों की तरह प्यार करने वाले कवि कभी ऐसे बेदर्द भी होते हैं। इसके उदाहरण उपाध्याय जी की कविता में आप, जितने चाहें देख लीजिए। 'हुआ' के आगे 'बना' बैठाइये तो किसी तरह इस कविता की शुद्धि हो सकती है परन्तु सच पूछिये तो आपके पद्य ऐसे होते हैं कि आप उनका चाहे जितना सुधार करें गद्य में भी उनके उसी 'अष्टावक्र' स्वभाव में दर्शन होते हैं। आपके उद्धृत पद्य में 'भी' की भी बड़ी बुरी दशा है—वह शब्द तो समालोचकों की सहानुभूति पाने की आशा से कह रहा है 'गये दोनों जहाँ से खुदा

## चाबुक

की कसम, न उधर के रहे न उधर के रहे।' इस 'भी' को आपने मात्रार्थे पूरी करने के लिए रक्खा तो वह अर्थ की असंगति की ओर इशारा करके आपसे बदला चुका रहा है। देखिये, यदि आप कहते हैं कि 'सबल के साथ निर्बल भी कड़ा बना रहता है।' तो इस 'भी' के प्रयोग से सूचित होता है कि 'निर्बल' के अतिरिक्त कोई और (मनुष्य) सबल के साथ कड़ा, बनने का इरादा रखता है। जैसे, उनसे हम भी नहीं बोलते, इस वाक्य में, 'भी' का प्रयोग सूचित कर देता है कि हमारे अतिरिक्त कोई और है जो उनसे नहीं बोलता, अतएव उद्धृत पद्य में 'भी' के प्रयोग से अर्थ की असंगति हो गई है। यदि आप उससे ऐसा अर्थ निकालना चाहते हों कि— निर्बल रहने पर भी सरल ? और सबल के साथ (मनुष्य) प्रतिपल कड़ा बना रहता है—तो आपके भाव कुछ और हैं और आपके शब्द कुछ और कह जाते हैं। उस रीति से 'भी' को तो एक 'आरं' मिल जाता है परन्तु आपका 'हुआ' ज्यों का त्यों 'हुआता' ही रह जाता है।—यदि आपने प्रथम पंक्ति टेढ़े अंकुश के वश में है। करीब बली भी पड़ा हुआ—के 'ली भी' का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए दूसरी पंक्ति में 'निर्बल भी' रख दिया है तो इस शब्द योजना से आपकी कविता-शक्ति को भी नीचा देखना पड़ा। 'यद्यपि समय पाकर निज पालक को (का ?) भी वह दुखदाता है।' 'को' रखिये तो उधर 'दाता' को 'देता' कर दीजिए और यदि 'दाता' वेतुका कह जाने के भय से अपना आसन न छोड़े तो 'को' की जगह 'का' बना दीजिए। 'वक्र' नखयुध जिस-जिस पशु को (के ?) हैं (हैं ?)। उपाध्यायजी 'हैं' लिख कर, इस एक वचन की क्रिया से सावित करते हैं कि एक नखायुध वाला पशु भी है। अच्छा होता यदि आप उसका यही उदाहरण अपनी कविता में दे देते। 'का' और 'के' की जगह 'को' लिख मारने का आपको अभ्यास सा पड़ गया है। कृपा करके क्या 'कोको'

की करामत में कुछ कमी भी कीजिएगा ?

बिना वक्र के बने कभी, क्यों  
हो सकता मन स्थिर कैसे ?”

गद्य इसका यों होगा—‘बिना वक्र के आपस में वाहियात है बने कभी क्यों (?) कैसे ? (?) मन स्थिर हो सकता है ? कभी के बाद ‘क्यों’ और ‘कैसे’ कमाल कर रहे हैं । वस कविता की हद हो गई ।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी के हिन्दी प्रोफेसर पं० सकल नारायण जी पाण्डेय काव्य संख्या व्याकरतीर्थ के माधुरी के किसी ग्रंथ में ‘ही’ शीर्षक एक प्रबन्ध लिखा है । प्रबन्ध विद्वता पूर्ण है । अगर उसमें कहीं कुछ कोर-कसर रह गई है तो उसका कारण यह है कि प्रबन्ध लिखते समय ‘सरस्वती’ को उलट-पुलट कर वरुणा जी के ‘ही’, ‘भी’ के प्रयोग आपने देख लिये । आपको उदाहरणों से वही सहायता मिलती । अगस्त ( १९२३ ) को सरस्वती, विविध विषय, पृष्ठ १६५, प्रथम कालम के दूसरे पैराग्राफ में लिखा है ‘कोरम’ पूरा भी होता है तो सब न सही, अधिकांश भी मेम्बर नहीं आते ।’ पाठक ! ‘भी’ की भरमार देखी आपने । क्यों भाई सम्पादक ! अगर ऐसा लिखते—कोरम पूरा (भी) होता है तो भी अधिकांश मेम्बर नहीं आते । तो भला सम्पादन कला की १६ नहीं ६४ कलाओं में से कितनी कलाएँ घट जातीं ? जबकि ‘अधिकांश’ खुद कहता है कि किसी पूर्ण विषय या वस्तु का, सब नहीं, अधिक अंश हूँ तो ‘सब न सही’ अकारण क्यों लिख मारा ? जान पड़ता है ‘अधिकांश’ के पीछे ‘भी’ जोड़ने के लिये ‘सब न सही’ को रगड़ डाला ।

इस संख्या के दूसरे नोट की ११वीं लाइन से शुरू करके लिखा है ‘तब आजकल जैसे साधन भी न थे’ यहाँ तो जैसे की कृपा से ‘आज-

## चाबुक

कल' और 'साधन' दोनों 'समवायः सखा मतः' हो गये हैं यानी 'आजकल' और 'साधन' में फर्क वाला भर नहीं रह गया, जैसे 'आप जैसे उदाराशय मनुष्य संसार में कम हैं' इस वाक्य में आप और उदाराशय मनुष्य 'जैसे' की कृपा से भेद बुद्धि रहित हो गये हैं। यानी जो आप हैं, वही उदाराशय मनुष्य हैं। परन्तु सरस्वती सम्पादक का जो 'आजकल' है वही 'साधन' नहीं। अतएव सरस्वती सम्पादक की लुटिया तभी डूबने से बचेगी जब 'आजकल' और 'जैसे' के बीच में एक 'के' जोड़ दिया जायगा।

×

×

×

आश्विन (सं० १६८०) की माधुरी में एक लेख है 'लाहौर'। पढ़ने लगे तो पहिली ही पंक्ति में धोखा खा गये। लिखा है—'पुरातन काल से चली आने वाली पंजाब की राजधानी लाहौर ने जितने परिवर्तन देखे हैं'—श्रीमती लाहौर के पैर बड़े मजबूत हैं क्योंकि वे पुरातन काल से चलती ही आ रही हैं। कहीं वैठी नहीं, विश्राम जरा भी नहीं किया। न जाने अभी कब तक चलना पड़े। उनसे प्रार्थना है कि वे हिन्दी संसार में इस तरह मनमानी चाल न चले। क्योंकि इस घन में बवू के काँटों की कमी नहीं। छिद जायँगे तो निकालने में आफत होगी। उनके सपूत पंजाबी उन्हें चलाते हैं तो चलावें पर लखनवी सम्पादक नज़ाकत की राजधानी में रहने पर भी, इतने बेदर्द हो जायँ कि उन्हें चलने से न रोकेँ, यह बड़े परिताप की बात है। 'माधुरी' का इसी संख्या में 'क' नामक लेखक ने 'साहित्यालोचन' शीर्षक लेख में ब्राबू श्याम सुन्दर दास, वी० ए० की साहित्यालोचन पुस्तक की आलोचना क्या की, व्यर्थ निन्दा लिखी है। साहित्यालोचन भले ही साहित्यदर्पण के जोड़ की पुस्तक न हो, पर वह कुछ नहीं है यह वहाँ कहेगा, जिसे साहित्य के किसी भी अंग का ज्ञान

नहीं—साहित्य के नाम से जो बिल्कुल कोरा है। 'माधुरी' के सम्पादकों को चाहिये था कि ऐसी आलोचना के लेखक का पूरा नाम दे देते। अच्छा, अब 'क' महाशय के भाषा-ज्ञान की भी थाह लीजिये। आप लिखते हैं 'मगर पिछले पाठ को तो (!) इसके पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है?' 'तो' इस वाक्य में वैसे ही चमक रहा है 'हंस मध्ये वको यथा'। 'तो' की कोई आवश्यकता न थी। आप लिखते हैं, 'संभव है जो कुछ वावू साहव ने इस विषय में पढ़ा हो, उसको शायद (!) इसलिये कुछ संक्षेप में लिख लिया हो'—आलोचना के लेखक महोदय आप जब 'संभव' लिख चुके तो 'शायद' वेचारे को भला क्यों सज़ा दी? आपके सम्भवता सूचक वाक्य का अन्त ही न हो पाया और शोख 'शायद' मियाँ डट गये। सम्भवता का इतना डवल काँस क्यों?

×

×

×

लोग कहते हैं, इस समय 'माधुरी' हिन्दी संसार की श्रेष्ठ पत्रिका है। दूरी जुमान से यही हम भी कहते और मानते हैं। खुलकर कुछ इसलिये नहीं कहते कि कहीं हमारी गुरुता का रंग फीका न पड़ जाय।

'आश्विन की माधुरी के ११वें नोट में' 'अभी वारम्बार मार खाकर हिन्दू जाति ने करवट बदली थी। जान पड़ता था, अबकी उसके चोट लगी है; वह अब अवश्य उठकर, यथा संभव शीघ्र ही, तत्परता के साथ संगठित होकर, शक्ति की आराधना के साथ शान्ति, मैत्री, साम्य का साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा।' वाह भाई, तुमने इस पूरे दो हाथ के सैंटेंस को कितना सुहावना बनाया उतना ही 'सैंटेंस' भी दिया। क्योंकि पहले तो जाति ने करवट बदली थी,

## चातुक

उसके चोट लगी । 'फिर वह साम्राज्य स्थापित करके ही दम लेगा ।'  
जान पड़ता है तुम 'जाति' को उभयलिङ्ग मानते हो, क्यों न ?

× × ×

आश्विन ( १९८० ) की 'शारदा' के प्रथम पृष्ठ पर 'किरीट' उपनाम-धारी किसी कवि महोदय की एक कविता प्रकाशित हुई है । कविता के कालमों की सजावट को देखकर मालूम हुआ कि 'कांचन जङ्घा' के साथ 'किरीट' जी का कोई 'घनिष्ट सम्बन्ध है ।' क्योंकि कविता किरीटनुमा है । शीर्षक है 'विजयाह्वान' । तुकबन्दी में फर्क बालमर नहीं रह गया । 'पास' 'हास' आदि अनुप्रास बड़े ढंग से रखे गये हैं । आजकल के तुककड़ तो बस अनुप्रास की पूँछ पकड़कर कविता वैतरणी से पार होते हैं, भाषा और भावों के संगठन पर चाहे पत्थर ही पड़े । उसमें एक जगह है :—

जो हम चिन्ता छोड़ मनाये (मनाते ?)

गये सदा उत्सव हर साल,

तो प्राचीन प्रथा में होगा

क्यों कुछ परिवर्तन विकराल ।

इस कविता से तो बेहतर यह था कि यहाँ एक खासा लड्ड का चित्र अंकित कर दिया जाता, तो लोग देखकर कुछ रसानुभव भी करते । एक जगह और लिखा है :—

समय चक्र का फेर बुरा, हो जावे चाहे जो आज ।

पर संशय का पात्र नहीं है, भारत के भविष्य का साज ।

ठीक है, आप कविता लिख रहे हैं या ज्योतिष उद्गीर्ण कर रहे हैं ।  
अगर भविष्य के शब्द आपके पेट में आवश्यकता से अधिक चले गये

हों तो कवि जी ! सावधान, कहीं हाजमा न बिगड़ जाय ! फिर 'वर्तमान' से 'चूरण' मिलने की आशा छोड़ देनी पड़ेगी । हमारी विनय पर ध्यान दीजिये—

तुकबन्दी के लिये तुम्हें हम धन्यवाद देते कविराज ।

किन्तु प्रार्थना, कवि जी ! रखना भाषा भावों की भी लाज ।

'सरस्वती' हिन्दी की सर्वोत्तम पत्रिका है । पूज्यपाद द्विवेदी जी के पारश्रम से वह अंग्रेजी 'माडर्न रिव्यू' और बंगला के 'प्रवासी' आदि प्रतिष्ठित पत्रों के जोड़ की हो गई है । उसकी भाषा भी हिन्दी के लिए आदर्श है । जब तक द्विवेदी जी उसके सम्पादक थे तब तक उसकी भाषा कितनी सुन्दर और निर्दोष होती थी, यह हिन्दी के सभी पाठकों को विदित है । इसमें सन्देह नहीं कि सभी पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी नहीं हो सकते परन्तु फिर भी, किसी सुयोग्य पुरुष रत्न द्वारा जिस आसन की प्रतिष्ठा हो जाती है उस पर उनके पश्चात् चाहे जिसे बैठने का सौभाग्य प्राप्त हो, वह आदर और सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है । अतएव हिन्दी संसार बरूशी जी को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखता है । हमें यह लिखते हुये दुख हो रहा है कि बरूशी जी की भाषा को हम हिन्दी की आदर्श भाषा नहीं मान सके । हमें उनकी भाषा में, उसके पद प्रकरण में एक नहीं अनेक, यत्रत. नहीं प्रायः सर्वत्र, दोष ही दोष देख पड़ते हैं । सम्भव है, यह हमारा अल्पज्ञता का कारण हो, और यह भी सम्भव है कि सी० पी० (मध्य-भारत) की हिन्दी भी कुछ ऐसी ही होती हो ।

मार्च (१९२४) की "सरस्वती" के दूसरे नोट के चौथे पैराग्राफ में है—'अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत जरूर हो गई है कि उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है ।' इस पर निवेदन यह है कि 'उनकी स्थिति

## चाबुक

उन्नत होने के कारण उनके कहने का प्रभाव पड़ सकता है यदि इस प्रकार से भाव प्रकट किया जाता तो 'पड़ सकता है' क्रिया का शुद्ध प्रयोग माना जा सकता था। परन्तु, जब इतनी ऊँची की उन्नत दशा समझाने के लिये एक दूसरे वाक्य (Clause) की सहायता ली गई तो 'पड़ सकता है' क्रिया का प्रयोग उस वाक्य में न होना चाहिये था। वहाँ इतनी बड़ी रुमापिका क्रिया की आवश्यकता न थी। वहाँ तो एक 'ऐसी क्रिया की आवश्यकता थी जो किसी विशेषण या परिचय रूप में व्यवहृत होने की सूचना स्वयं देती। हमारी मन्द बुद्धि के अनुसार तो वहाँ 'पड़ सकता है' नहीं 'पड़े' या 'पड़ सके' क्रिया का व्यवहार होना चाहिये था। सम्पूर्ण वाक्य इस तरह होता है—'अब उनकी स्थिति इतनी उन्नत जरूर हो गई है कि उनके कहने का प्रभाव पड़े या पड़ सके।'

×

×

×

मार्गशीर्ष (१९८०) की 'माधुरी' का दूसरा नोट है 'मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का पुनीत कार्य'। इस पुनीत कार्य के लिये सम्पादक युगल की आशाजनक भाषा बड़ी ही निराशा की दृष्टि से समालोचकों की कृपा भिन्ना माँग रहा है। आप लिखते हैं—'किन्तु हमें आशा है कि जो सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित होने की वैसी इच्छा न रखते हों, वे भी केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए मद्रास पहुँचे।' क्यों परिडत युगल ! 'हमें आशा है—वे भी—मद्रास पहुँचे'। हरे हरे ! आशाजनक वाक्य में 'पहुँचूँ' आदेशदात्री क्रिया ! अथवा आग्रह की सूचना ! आप लोगों को तो इस वाक्य का सम्पादन यों करना चाहिए था 'किन्तु हमें आशा है, जो सज्जन कांग्रेस में सम्मिलित होने की वैसी इच्छा नहीं रखते, वे भी केवल हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन में



सम्मिलित होने के लिए मद्रास पहुँचेंगे।' क्या आप अपने वाक्य से इसका मिलान करके अर्थ-संगति की परीक्षा न लेंगे ?

'माधुरी' के ११ वें नोट में आप स्वदेश को (!) गये थे। क्यों पण्डित जी। 'आप स्वदेश को गये थे' में 'को' छूट जाने से क्या रस बिगड़ जाता है ? या भाषा अशुद्ध हो जाती है ? आप लिखते हैं— 'आशा है इस कार्य में ( के लिये ) भारतवासी यथेष्ट सहायता देकर परलोकगत पियर्सन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने में पश्चात्पद न होंगे ?'

आपके बारहवें नोट में है—'आपको योरप में भेजा था।' वाह महाशय ! कभी लिखते हैं—स्वदेश को गये थे और कभी 'यूरप में भेजा था।' यहाँ 'योरप भेजा था' लिखते तो क्या लखनऊ की हिन्दी की नाक कट जाती ?

आपके सुमन संचय में कहीं-कहीं सुमन की जगह काँटे ही रह जाते हैं। सुमन की ओर मनुष्य को पहले दृष्टि ही आकर्षित करती है, और सुमन के सौंदर्य का अनन्दोपभोग पहले दृष्टि ही करती है। आपके इन सुमनों से जब दृष्टि लिपट जाती है, तब अज्ञानवश जो काँटे उनमें रह जाते हैं वे बड़ी वेददों से आँखों में छिद जाते हैं जैसे आपके चौथे सुमन में है—'मूल लेखक के नाम तक को भी (!) उड़ा देते हैं।' यहाँ 'भी' वैसा ही काँटा रह गया है। यहाँ या तो 'तक' रखते और 'भी' को निकाल देते या 'भी' रखकर 'तक' को अलग कर देते। दोनों एक साथ रह कर काँटे से भी बुरी तरह चुभते हैं।

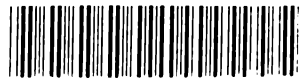
465488  
S. 2-74  
त



Library

IAS, Shim-la

H 814.6 N 629 C



00046588